युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

निजात्मशुद्धिभावना

[संस्कृत, हिन्दी व अंग्रेजी टीका सहित]

लेखक

आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज

अर्थ सहयोग

स्व० रतन लाल जी गंगवाल की स्मृति में
धर्मपत्नी बादामबाई एवं सुपुत्र महावीर जी, निवाई
(कस्तूरचन्द रतनलाल द्वारा)

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

हीरक जयन्ती प्रकाशनमाला पुष्प संख्या–५९

प्रेरक : उपाध्याय मुनिश्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशक : आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

संयोजक : ब्र० धर्मचन्द शास्त्री, ब्र० कु० प्रभा पाटनी

ग्रन्थ : निजात्मशुद्धिभावना

प्रणेता : आचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराज

संस्करण : प्रथम प्रतियाँ १०००
वि० सं० २०४६–४७ सन् १९९०

प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्राप्ति स्थान : (१) आचार्य विमलसागरजी संघ
(२) अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया, बाँसवाड़ा [राजस्थान]
(३) श्री दि० जैन मन्दिर, गुलाबवाटिका, लोनी रोड, दिल्ली

मूल्य :

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी,
वाराणसी

समर्पण

चारित्र शिरोमणि
सन्मार्ग दिवाकर
करुणा निधि
वात्सल्य मूर्ति
अतिशय योगी—
तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—
अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता
शान्ति-सुधामृत के दानी
वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक
ज्योति पुञ्ज—
पतितों के पालक
तेजस्वी अमर पुञ्ज
कल्याणकर्त्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा
बीसवीं सदी के अमर सन्त
परम तपस्वी, इस युग के महान् साधक
जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत
पुण्य पुञ्ज—
गुरुदेव आचार्यवर्य श्री 108
श्रीविमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में
"ग्रन्थराज"
समर्पित

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय।
तुभ्यं नमः परम तीर्थं सुवन्दकाय॥
"स्याद्वाद" सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय॥

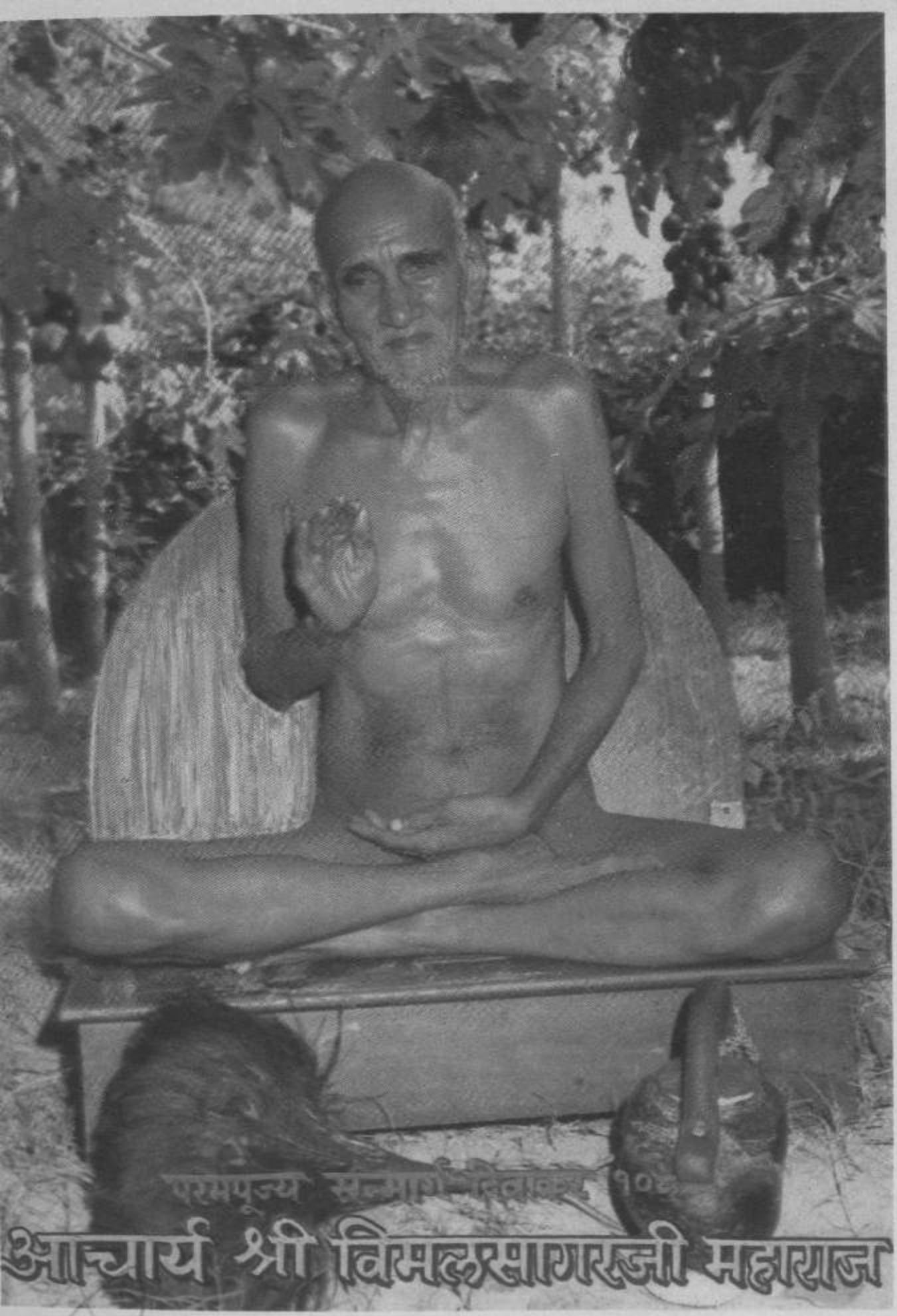

आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

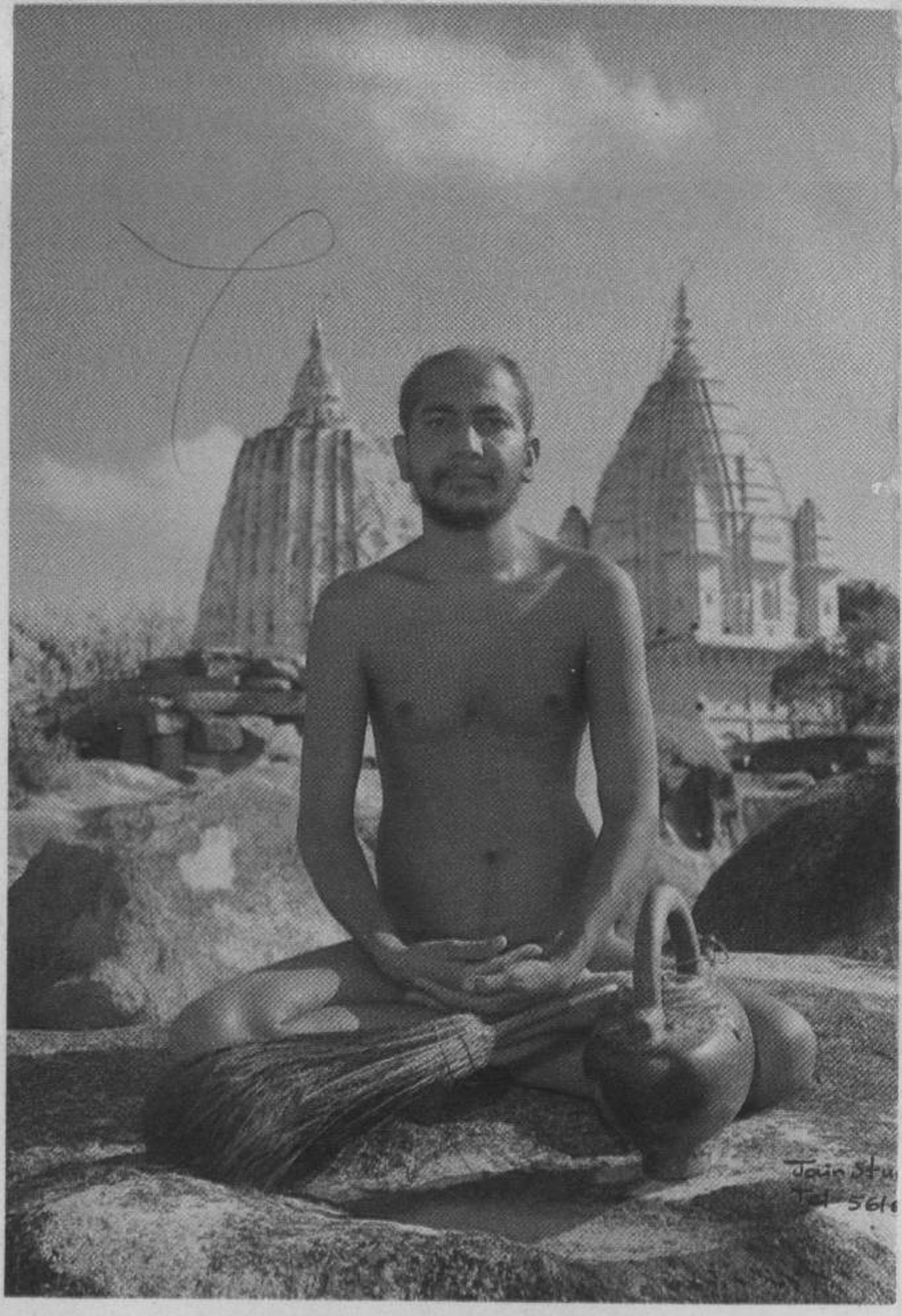

उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

सौ. नाशिक.

॥ आशीर्वाद ॥

विगत कतिपय वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक ऐसा मिथ्या ऐसा भाव गया कि सत्यपर असत्य का आवरण आने लगा - एकान्तवाद - निश्चयाभास तूल पकड़ने लगा।

आज के इस भौतिक युग में असत्य को अपना प्रभाव फैलाने में विशेष श्रम नहीं करना होता, यह कटु सत्य है, कारण जीव के मिथ्या संस्कार अनादिकाल से चले आये हैं। विगत ७०-८० वर्षों में एकान्तवाद ने नैश्चत्व का टीका लगा कर निश्चय नय की आड़ में स्याद्वाद को पीछे धकेलने का प्रयास किया है। मिथ्या साहित्य को प्रसार-प्रचार किया है। आचार्य कुन्द-कुन्द की आड़ लेकर अपनी ख्याति चाही है और शास्त्रों में भाचार्य बदल दिए हैं अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

कुछजनों ने अपनी क्षमता पर 'एकान्त' में लोहा लिया है पर वे अपनी ओर से जनता को अपेक्षित सत्साहित्य सुलभ नहीं करा पाए। आधार्य श्री विमल सागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने आचार्य श्री एवं हमारे सान्निध्य में एक सकल्पलिया कि पूज्य आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और वह जन-जन को सुलभ हो। फलत ७५ आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया है क्योंकि सत्यसूर्य के तेजस्वी होने पर असत्य अन्धकार स्वत: ही पलायन कर जाता है।

आर्ष ग्रन्थो के प्रकाशन हेतु जिन महानुभावों ने अपनी स्वीकृति दी है एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जिस किसी ने भी इस महदनुष्ठान में किसी भी प्रकार का सहयोग किया है उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

उपाध्याय भरतसागर

ता. १२-७ १९९०

'संकल्प'

'णाणं पयासं' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढ़न्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगा-कर कर रहे हैं। ऊटपटाँग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही हैं : कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है—

येनैते विदलन्ति वादि गिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः,
भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद् बन्धुर्यन्मित्रं यदक्षयसुखस्याधारभूतं मतं,
तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि "संकल्प" के बिना सिद्धि नहीं मिलती। सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक-जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह संकल्प मैंने प० पू० गुरुदेव

आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सानिध्य में लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं० धर्मचन्द जी व प्रभा जी पाटनी रहे, इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्यभक्तिपूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिरि, ११-७-९०

आर्यिका स्याद्वादमती

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥—पद्मनंदी पं० ॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनो केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसीलिए उन मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है, तथा सरस्वतो का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुंथित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

युगप्रमुख आचार्यश्री के हीरक जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में हमें जिन-वाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनु-दान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्यायश्री भरत-सागरजी महाराज व निर्देशिका तथा जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया, ऐसी पूज्या आ० स्याद्वादमती माताजी के लिए मैं शत-शत नमोस्तु-वंदामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया, उनको शत-शत नमन करती हूँ। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदातारों की मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले वर्द्धमान मुद्रणालय की भी मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिनशासन की, जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी भावना करती हूँ।

ब्र० प्रभा पाटनी संघस्थ

श्रीमती बादाम बाई जी

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व की ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' अमोघ अस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक हैं सन्मार्ग दिवाकर चारित्रचूड़ामणि परम पूज्य आचार्यवर्य विमलसागर जी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जाएँ जिसे श्रावक पढ़कर मोहरूपी अन्धकार को नष्टकर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परम पूज्य ज्ञानदिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायरत्न भरतसागर जी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माताजी की प्रेरणा व निर्देशन में परम पूज्य आचार्य विमलसागर जी महाराज की 74वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर 75वीं जन्म-जयन्ती के रूप में मनाने का संकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् ने लिया। इस अवसर पर 75 ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरों में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और 75 पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ

में पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानों का सम्मान एवं 75 युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्त-व्यसन का त्याग करना आदि योजनाएँ इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

सम्प्रति आचार्यवर्य पू० विमलसागर जी महाराज के प्रति देश एवं समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणों में शत-शत नमोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एवं मार्गदर्शन मिला है, वे पूज्य उपाध्याय भरतसागर जी महाराज एवं माता स्याद्वादमती जी हैं। उनके लिए मेरा क्रमशः नमोऽस्तु एवं वन्दामि अर्पण है।

यह ग्रन्थ (निजात्मशुद्धिभावना) पहले श्री कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर से छपा था और बहुत समय से अप्राप्य है। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होने से यह हीरक जयन्ती ग्रंथमाला से प्रकाशित करने के लिए श्री कुन्थु-सागर ग्रन्थमाला ने स्वीकृति दी है। इसके लिए हम विशेष रूप से आभारी हैं।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनु-वादक, सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग करके पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में मुद्रित हुए। एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से मुद्रण का कार्य किया, धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग प्रदान किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द शास्त्री

अध्यक्ष

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

निजात्मशुद्धिभावना

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित

निजात्मशुद्धिभावना

[भाषा टीकासहित]

मंगलाचरण

स्वराज्यकर्त्रे शिवसौख्यभर्त्रे,
स्वातंत्र्यदात्रे परतंत्रहर्त्रे ॥
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय,
सत्सौख्यसिद्धयै हि नमस्करोमि ॥ १ ॥

संस्कृतार्थः—ग्रंथारंभे विघ्नविनाशनार्थं, नास्तिकता परिहारार्थं, शिष्टाचारपरिपालनार्थं, गुणस्मरणार्थं च ग्रन्थनिर्माणहेतुप्रदर्शनपूर्वकं इष्टदेवमभिष्टौत्याचार्यः ।

नमस्करोम्यहम् कस्मै वीराय, दुर्जयकर्मारातीन् विजित्य वीर इति प्रसिद्धाय अथवा महति महावीर इति ख्याताय वर्धमानतीर्थंकराय, कथंभूताय स्वराज्यकर्त्रे स्वराज्यस्य निराकुलस्यात्मराज्यस्य कर्ता तस्मै, पुनः कथंभूताय शिवसौख्यभर्त्रे मोक्षसुखस्य भर्ता तस्मै, पुनश्च स्वातंत्र्यदात्रे आत्मानंदमयनिजाधीनताया दाता तस्मै, तथा च परतंत्रहर्त्रे परमदुःखमयपराधीनताया हर्ता तस्मै, अपि च भव्यांबुजभास्कराय सम्यग्दर्शनादिभावैर्भवितुं योग्याः भव्याः, भव्यकमलविकासनार्थं सूर्यसदृशाय वीराय नमस्करोमि इत्यर्थः । किमर्थमिदं ? तत्सौख्यसिद्धयै सुखान्वेषणमेव सर्वप्राणिनां हृद्गतं वर्तते तस्मात् निराकुलस्वानंदसुखसिद्धयर्थं वीराय नमस्करोत्याचार्यः विश्वमहिताचार्यं

श्रीकुन्थुसागरः, अस्य ग्रन्थस्य कर्ता। लोकेपि यो यद्गुणलब्ध्यर्थी स तं वंदमानो दृष्टः ॥१॥

महावीर जिनचरण नमि गुरु गौतमके पाय।
स्वात्मशुद्धिकी भावना टीका लिखूँ बनाय॥

अर्थ—जो महावीरस्वामी स्वराज्य अर्थात् मोक्षराज्यके कर्ता हैं, मोक्षसुखके स्वामी हैं, स्वतंत्रता अर्थात् आत्माकी स्वतंत्रताको देनेवाले हैं, कर्मजनित परतंत्रताको दूर करनेवाले हैं, और भव्यजीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिए जो सूर्यके समान हैं ऐसे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामीको उत्तम सुखकी प्राप्तिके लिए मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

भावार्थ—इस श्लोकमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार किया है। वास्तवमें देखा जाय तो शुद्ध आत्माका निजस्थान मोक्ष ही है। मोक्षमें जाकर यह आत्मा समस्त कर्मबंधनोंसे रहित होकर पूर्णरूपसे स्वतंत्र हो जाता है। पूर्णरूपसे स्वतंत्र हो जाना ही स्वराज्य है। ऐसा स्वराज्य भगवान् महावीर स्वामीके कहे हुए मोक्षमार्गमें चलनेसे प्राप्त हो सकता है। भगवान् महावीर स्वामीने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको ही मोक्षमार्ग बतलाया है। यही आत्माका यथार्थ स्वरूप है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसी आत्माके शुद्ध स्वरूपको जान लेना सम्यग्ज्ञान है और उसी आत्माके शुद्ध-स्वरूपमें लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। इसीलिए इस मोक्षमार्गको आत्माका यथार्थ स्वरूप बतलाया है और यही मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है। निकटभव्य जीवोंके कर्मोंका उदय अत्यन्त मन्द होता है। इसीलिए ऐसे भव्यजीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके [शुद्ध

परमात्मा] वचनोंको सुनकर अत्यन्त आनन्दित और प्रफुल्लित होते हैं ॥ १ ॥

I bow down to Lord Mahavir who is the ruler and the giver of the happiness, the final bftitude:—who is the conferer of the independence of soul, who is the expeller of the bondage of human action [Karmas] and who is like the orient budding the lotus flowers in the form of people worthy of absolution. (1)

आगे आचार्य अपनी प्रतिज्ञा करते हैं—

मिथ्यात्वमार्गस्य विनाशनार्थं,
यथार्थमार्गस्य प्रवृत्तिहेतोः ।
स्वानन्दसिद्धचै स्वपरार्थशान्त्यै,
समाधिसिद्धचै परिणामशुद्धचै ॥ २ ॥
आबालवृद्धस्य सुखार्थमेव,
निजात्मशुद्धेर्वरभावनेयम् ।
श्रीकुन्थुनाम्ना मुनिनाल्पबुद्धचा,
स्वमोक्षदात्री खलु कथ्यते हि ॥ ३ ॥

संस्कृतार्थः—मंगलानुष्ठानपूर्वकं ग्रन्थनिर्माणमुद्देशश्च कथ्यते मिथ्यात्वमार्गस्य विनाशनार्थं विपरीतातत्त्वश्रद्धानरूपमार्गस्य निराकरणार्थं यथार्थमार्गस्य सन्मार्गस्य प्रवृत्तिहेतोः स्वानंदसिद्धचै परमानंदमयनिजानंदसिध्यर्थं तथैव स्वपरजनेषु प्रशमभावसंचारार्थं, समाधिसिद्धचै साम्यभावसिद्धचर्थं अथवा कषायविषयादीन् विजित्य आत्मभावग्रहणार्थं, तथा परिणामशुद्धचै आत्मभावविशुद्धचर्थं, आबालकवृद्धपर्यन्तं समस्तभव्यानां सुखसिद्धचर्थं इयं निजात्मशुद्धिभावना कथ्यते, निरूप्यते, केन श्रीकुंथुनाम्ना स्वानुष्ठानज्ञानादिभिः प्रथित

यशः श्रीकुंथुसागराचार्यः तेन, कथंभूतेन अल्पबुद्धया अल्पमतिना इति लघुत्वं प्रकटयत्याचार्यः। कथंभूतेयं निजात्मशुद्धिभावना स्वमोक्षदात्री स्वर्गमोक्षप्रदात्री सा च सकामा चेत् स्वर्गप्रदायिनी, निष्कामा चेत् मोक्षप्रदायिनी इति भावः ॥२-३॥

अर्थ—मिथ्यात्वमार्गको नाश करनेके लिये, यथार्थ मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करनेके लिए, अपने आत्माको आनन्द प्राप्त करनेके लिए, अपने आत्माको तथा अन्य समस्त जीवोंको शान्ति प्राप्त करनेके लिए, अपने हृदयमें समाधि प्राप्त करनेके लिए, परिणामोंकी शुद्धिके लिए और बालक वा वृद्ध आदि समस्त जीवोंको सुख प्राप्त करनेके लिए श्री मुनिराज कुन्थुसागरस्वामी अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार अपने आत्माको शुद्ध करनेवाली ऐसी श्रेष्ठभावनाका स्वरूप कहते हैं ॥ २-३ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकारके महा दुःख भोगता रहता है। इस परिभ्रमण और दुःखोंका कारण एकमात्र मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धाके निमित्तसे ही यह जीव पंचपरावर्तन रूप संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। जब यह आत्मा अपने आत्माके शुद्धस्वरूपकी ओर झुकता है और उसका चिंतवन करते हुए उसको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, उस समय यदि दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी कषायका उपशम हो जाय तो उसी समय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तथा उसी समय मिथ्यात्वका नाश हो जाता है। मिथ्यात्वका नाश होकर सम्यग्दर्शनका प्रकट होना ही आत्माका कल्याण है। तथा आत्माका कल्याण वा मिथ्यात्वका नाश आत्माका शुद्धस्वरूपके चिंतवन करनेसे होता है। मिथ्यात्वका नाश होते ही यह आत्मा अपने आत्मामें प्रवृत्ति करने लगता है, उसका आत्मा अत्यन्त शांत हो जाता है, परिणाम अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं और

आत्मसुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए संसारी जीवोंका मिथ्यात्व दूर करनेके लिए भावनाओंका स्वरूप निरूपण करते हैं ॥ २–३ ॥

This is being told by Muni Kunthusagarji in tune with the limitations of his intellect, for the destruction of the channels of false principles and for the purpose of commencing activity in the path of that which is the most proper [i.e. absolution], for achieving the exaltation of the soul and for the peace of his own self and of others for the obtainment of *Samadhis* and for the purity of the various conditional phases of the soul which is competent to purify the soul and to give heavens and absolution, for the happiness of both the young and the adults. (2–3)

आगे मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिए भगवान् महावीर स्वामीका शरण लेना आवश्यक है, यही बात दिखलाते हैं। अथवा अप्तागम गुरुओंमें आप्तका स्वरूप कहते हैं—

यः कर्मशत्रून् हि विजित्य दुष्टान्,
सुज्ञातवान् सर्वपदार्थधर्मम् ।
मोक्षस्य मार्गं निरपेक्षबुद्धया,
मोक्षार्थिभव्याय किलोक्तवांश्च ॥ ४ ॥
स एव वीरो हि हरिर्हरश्च,
ब्रह्मा च विष्णुश्च जिनश्च बुद्धः ।
स्वर्मोक्षदातुर्भवरोगहर्तु-
र्गच्छन्तु भव्याः शरणं हि तस्य ॥ ५ ॥

संस्कृतार्थः—को वीरः इति पृष्ठे सति आचार्यः प्राहः—यः कर्मशत्रून् अहितकरणादरातीति प्रसिद्धाः तान् कर्मारातीन् कथंभूतान् दुष्टान् आत्मसंक्लेशकरपीडादायकत्वात् दुष्टान् विजित्य सुष्टु जानाति तथा सर्वपदार्थधर्मम् सर्वपदार्थस्वरूपम्, मोक्षस्य मार्गं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकमोक्षमार्गं च निरपेक्षबुद्धया ख्यातिलाभपूजाद्यपेक्षया विना उक्तवान् स एव वीरः, स एव हरिः, हरश्च, ब्रह्मा विष्णुश्च स एव कथ्यते, स एव जिनः बुद्धः इति येन केनापि नाम्ना संबोध्यतां, सः स्वर्गमोक्षस्य दाता, तथा भवरोगहर्ता इति तस्य शरण भव्याः गच्छन्तु, यांतु संसारसागरोत्तरणाय भव्यजनैराराधयितुं योग्येन भगवता निर्दोषेण भवितव्यमितिभावः ॥४–५॥

अर्थ—जिन श्री महावीर स्वामीने अत्यन्त दुष्ट ऐसे कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर समस्तपदार्थोंके स्वरूपको जान लिया है और मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंके लिए जिन्होंने निरपेक्षबुद्धिसे मोक्षमार्गका निरूपण किया है वा उपदेश दिया है। ऐसे श्रीमहावीर स्वामी ही विष्णु हैं, वे ही महादेव हैं, वे ही ब्रह्मा हैं। वे ही हरी वा कृष्ण हैं और वे ही बुद्ध हैं। इसके सिवाय वे ही भगवान् स्वर्गमोक्षके देनेवाले हैं और संसाररूपी रोगको हरण करनेवाले हैं। हे भव्य जीवो! तुम लोग भी ऐसे ही महावीरस्वामीकी शरण लो, उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ४–५ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामीने दीक्षाधारण कर घोर तपश्चरण किया था, और अपने शुक्लध्यानके बलसे समस्त घातिया कर्मोंको नाश कर सर्वज्ञ अवस्था धारण कर ली थी। घातिया कर्मोंके नाश होनेसे रागद्वेष आदि समस्त दोष भी नष्ट हो गये थे। इस प्रकार वे भगवान् परम वीतराग और सर्वज्ञ हो गये थे। उस समय इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवशरणकी रचना की थी और उसमें विराजमान भगवान्ने मोक्षमार्गका उपदेश दिया था। भगवान्

महावीर स्वामी वीतराग और सर्वज्ञ थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ उपदेश दिया था वह सब यथार्थ और साक्षात् मोक्षका कारण है। जो जो वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं वे सब मिथ्याभाषण कभी नहीं करते। मिथ्याभाषण करनेका कारण अज्ञानता होती है अथवा राग-द्वेष होता है। भगवान् महावीर स्वामीके रागद्वेष आदि समस्त विकार नष्ट हो गये थे तथा सर्वज्ञ होनेसे अज्ञानता भी सब नष्ट हो गई थी। इसलिए मिथ्या उपदेश देनेका उनमें कोई कारण नहीं था। अतएव उन्होंने जो तत्त्वोंका स्वरूप बतलाया है, वा मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह सब यथार्थ है इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। यही कारण है कि वे भगवान् हरिहर, ब्रह्मा, विष्णु, जिन, बुद्ध आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हैं। मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यजीवोंको ऐसे ही भगवान् महावीर स्वामीके शरणमें रहकर, उनकी आज्ञानुसार चलकर वा उनके कहे हुए समस्त तत्त्वोंका मननकर अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिए ॥४-५॥

May the creatures worthy of securing absolution resort to Him—Him who having subdued the cursed enemies in the form of worldly actions [Karmas] and who having very well-known the functions of all objects and who has laid down, without any self interest, the ways of obtaining absolutions for persons anxious for the obtainment of the same:—That person alone is Vir (Mahavir), he alone is Hari, he too is Hara, He too is Brahma and Vishnu and Jina and Buddha and what not who is compentent to confer absolution and who removes the malady in the form of [mortal] birth. (4-5)

आगे यथार्थ शास्त्रका लक्षण कहते हैं—

शंकाभयादेः कलहादिकस्य,
चतुर्गतेर्मार्गनिरोधकं हि ।
स्वर्मोक्षमार्गप्रतिपादकं च,
यथार्थतत्त्वस्य निरूपकं यत् ॥ ६ ॥
तदेव शास्त्रं पठितुं सुयोग्यं,
श्रोतुं सदा पाठयितुं परांश्च ।
विरोधहीनं परमार्थभूतं,
स्वराज्यदं स्वात्मसुबोधकं यत् ॥ ७ ॥

संस्कृतार्थः—आप्तस्वरूपं विविच्य आगमस्वरूपं प्रतिपादयत्याचार्यः । शास्त्रं श्रुतं भवति किं तत् शंकाभयादेः मोक्षमार्गे शंका तथा इहलोकपरलोकादिभयाः । कलहादिकस्य परस्पर विवादात्मककलहादिः चतुर्गतिभ्रमणात्मकसंसारः इत्येतेषां निरोधकं, स्वर्गमोक्षमार्गप्रतिपादकं तथा च यथार्थतत्त्वस्य स्वपरस्वरूपस्य निरूपकं प्रतिपादकं शास्त्रं भवति । तत् शास्त्रं पठितुं पाठयितुं श्रोतुं श्रावयितुं योग्यं । पुनः कथंभूतं, विरोधहीनं परस्परविरोधरहितं, परमार्थभूतं वस्तुनो याथार्थ्यस्वरूपप्रकाशकं, स्वराज्यदं, आत्मराज्यप्रदायकं एवं स्वात्मसुबोधकं आत्मस्वरूपप्रकाशकं भवति ॥६-७ ॥

अर्थ—जो शास्त्र शंका, भय वा कलह आदिके मार्गको रोकनेवाला है, चारों गतियोंके मार्गको रोकनेवाला है, जो स्वर्ग और मोक्षके मार्गको प्रतिपादन करनेवाला है, तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको निरूपण करनेवाला है, जो पूर्वापर विरोध रहित है, परमार्थभूत है, अपने आत्मरूप स्वराज्यको देनेवाला है, और अपने आत्माका ज्ञान प्रकट करनेवाला है, वही शास्त्र पढ़ने योग्य है, सुनने योग्य है और दूसरोंको पढ़ाने योग्य है ।।६–७।।

भावार्थ—भगवान् वीतराग सर्वज्ञदेवका जो उपदेश है उसीको शास्त्र कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेवका कहा हुआ शास्त्र ही तत्त्वोंका यथार्थ उपदेश देता है। मोक्षमार्गका यथार्थ निरूपण करता है और पूर्वापरविरोध रहित होता है। ऐसे शास्त्रोंके पठन-पाठन करनेसे ही आत्माका कल्याण होता है। भव्यजीवोंको ऐसे ही शास्त्रोंका पठन-पाठन करना चाहिए। भगवान् वीतराग सर्वज्ञदेवके कहे हुए शास्त्रोंके सिवाय अन्य सब शास्त्र रागद्वेष बढ़ानेवाले होनेसे मिथ्या शास्त्र कहलाते हैं। मिथ्याशास्त्रोंमें केवल इन्द्रियोंके विषय पुष्ट किये जाते हैं और इसीलिए वे संसारके कारण माने जाते हैं। इसलिए ऐसे शास्त्रों-को कभी भूलकर भी नहीं पढ़ना चाहिए ॥६-७॥

That lore [Shastra-Religious Scripture] alone is fit to be studied which blocks up the path of four kinds of births, which obstructs dubroseits, apprehensiveness, and discard etc. and which is the source of establishing the chance for one's own absolution and which is ever fit to be heard and fit to be taught to others, which is destitute of contradictions and which contatins the quentesece of all meanings and which is the conferer of spiritual supremacy and instructions to the knowledge to the soul. [6-7]

आगे वीतराग निर्ग्रन्थसाधुका लक्षण कहते हैं—

वांच्छा न चित्ते विषयेषु यस्य,
निजात्मधर्मे च सदैव तृप्तः।
अतीव दक्षः स्वपरोपकार्ये,
तत्त्वप्रचारेऽपि यथार्थमार्गे ॥ ८ ॥

इच्छानिरोधं सुखशांतिमूलं,
कुर्वंस्तपो यः स्वपदे स्थितोऽस्ति ।
स एव साधुः सकलस्य दुःखं,
हरत्यचिन्त्यं हृदि चिंतनीयः ॥ ९ ॥
समागमस्तस्य भवेद्धि साधो,
ध्यानं जपो वा मननं सुसेवा ।
आचारमार्गे खलु तादृशस्य,
भवेत्प्रवृत्तिः सततं जनस्य ॥ १० ॥

संस्कृतार्थः—आगमस्वरूपं प्रतिपाद्य साधुस्वरूपं प्रतिपाद्यते । यस्य चित्ते मनसि विषयेषु पंचेंद्रियविषयेषु वांछा भोगाभिलाषा न विद्यते । यश्च निजात्मधर्मे स्वानंदरसे सदा तृप्तः, स्वपरोपकार्ये स्वपरानुग्रहकार्ये अतीव दक्षः अतिनिपुणः तथा तत्त्वप्रचारे सन्मार्ग प्रवृत्तौ च दक्षः, इच्छानिरोधं, कथंभूतं सुखशांतिमूलं सुखस्य शांतश्च मूलकारणं तं कुर्वन् तपश्च कुर्वन् स्वपदे आत्मपदे स्थितो लीनोस्ति स एव साधुः । एवं समस्तप्राणिनां अचिंत्यमसहनीयं दुःखं हरति सः हृदि मनसि चिंतनीयः । साधूनां समागमः संगतिः, ध्यानं चिंतनं, मननं सेवादिकं भव्यानां प्राप्नोतु, यतः तेषां जन्म-साफल्यं भवेत् ॥८-९-१०॥

अर्थ—जिन साधुके हृदयमें पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा सर्वथा नहीं है, जो अपने आत्माके धर्ममें सदा तृप्त रहते हैं, जो अपने आत्माका तथा परजीवोंका उपकार वा कल्याण करनेमें अत्यन्त चतुर हैं, जो यथार्थ तत्त्वोंके प्रचार करनेमें वा यथार्थ मोक्षमार्गमें अत्यन्त चतुर हैं, जो सुख और शान्तिका मूल कारण ऐसे इच्छा निरोध रूप तपश्चरणको करते हुए अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहते हैं ऐसे साधु समस्तजीवोंके अचिंत्य दुःखोंको भी दूर कर देते हैं। ऐसे साधुओंको

अपने हृदयमें सदा चिन्तवन करते रहना चाहिए। भव्यजीवोंको ऐसे साधुओंका सदा समागम होता रहे। ऐसे साधुओंका सदा ध्यान वा जप होता रहे, ऐसे साधुओंका मनन होता रहे, उनकी सेवा होती रहे, और ऐसे ही साधुओंके आचार मार्गमें सदा प्रवृत्ति बनी रहे ॥८-९-१०॥

भावार्थ—बार-बार जन्म लेना और बार-बार मरण करना संसार कहलाता है। इस संसारमें जन्म-मरणका दुःख ही सबसे अधिक दुःख कहलाता है। तथा वह संसारका दुःख विषयवासनाओंमें तल्लीन होनेसे होता है। यह जीव जब तक विषयवासनाओंमें लीन रहता है तबतक वह संसारके जन्ममरण रूप महा दुःखसे कभी नहीं छूट सकता। परन्तु जो भव्यजीव इस जन्म-मरणरूप दुःखसे वा संसारसे विरक्त हो जाते हैं ऐसे भव्यजीव दीक्षा धारण कर तपश्चरण करनेके लिए वनमें चले जाते हैं। वे सबसे पहले समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देते हैं, राग, द्वेष आदि विकारोंका त्याग कर देते हैं और इस प्रकार वीतराग निर्ग्रन्थ होकर परमहंस, चिदात्मलीन साधु हो जाते हैं। उनके ममस्त विषय-वासनाओंका त्याग हो जाता है। समस्त इन्द्रियाँ उनके वश हो जाती हैं। वे सब प्रकारके आरम्भका त्याग कर देते हैं। और सदा काल स्वाध्याय, तपश्चरण और ध्यानमें लीन रहते हैं। ऐसे साधु अपने आत्माका कल्याण करते हुए अनेक भव्यजीवोंका कल्याण करते रहते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको सदाकाल ऐसे वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओंके सर्वसंगपरित्यागी सद्गुरुओंके शरणमें ही रहना चाहिए। उनकी वैयावृत्ति सेवा करते रहना चाहिए और सदाकाल उनकी आज्ञानुसार चलते रहना चाहिये। ऐसे साधुओंके शरणमें रहनेसे ही अपने आत्माका कल्याण हो सकता है। यदि सदा रहना न बने तो घड़ी दो घड़ी जितनी बन सके उतना तो जरूर रहना चाहिए तो स्वात्मकल्याण होगा ॥८-९-१०॥

That ascetie is fit to be adored in the heart of hearts who destroys immeasurable miseries of act who has no attachment in his heart to the famous of the world and who is always satisfied in the performance of his duties, and who is extremely dexterous in conferring obligations upon others and also in the distribution of philosophic principles by means of adequate channels, who while practising pennance and control over desires to the giver of happiness and peace, is well settled in his own self.

If there be the company of such an ascetie [Sadhu], and his meditation, verbal repetetion [Japa] concentration and service, then of such a person, virity there is an incessant progress in the path of good behaviour. (8-9-10)

आगे व्रतोंकी भावना दिखलाते हैं—

जीवान्न वै कानपि पीडयामि,
वदाम्यसत्यं च कदापि नाहम् ।
गृह्णामि भार्यां न धनं परस्य,
पिबामि संतोषसुधां सुमिष्टाम् ॥ ११ ॥

संस्कृतार्थः—आत्मशोधनार्थं विशुद्धभावनां भावयति भव्यः नाहं कदापि कानपि जीवान् पीडयामि, नानृतं वदामि, परस्य वित्तं, कलत्रं च न गृह्णामि, अपितु स्वात्मोत्थसंतोषामृतरसं सर्वदा पिबामि ॥ ११ ॥

अर्थ—मेरा यह निश्चय है कि मैं किसी जोवको दुःख नहीं दूँगा, न कभी असत्य भाषण करूँगा और न कभी दूसरेकी स्त्री वा धनको ग्रहण करूँगा । मैं तो सदा अत्यन्त मिष्ट ऐसे सन्तोषरूपी अमृतको ही पीता रहूँगा ॥११॥

भावार्थ—इस संसारमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप कहलाते हैं। यद्यपि इस संसारमें पाप अनेक प्रकारके होते हैं और वे अनेक प्रकारसे किये जाते हैं। तथापि वे सब पाप इन्हीं पापोंमें अन्तर्गत हो जाते हैं। इन पाँचों पापोंमें भी हिंसा प्रधान पाप है। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन चारों पापोंके करनेमें हिंसा अवश्य होती है, झूठ बोलनेमें किसी न किसीको दुःख अवश्य होता है, जिसकी चोरी करते हैं उसको दुःख अवश्य होता है कुशील सेवनमें अनेक जन्तुओंकी हिंसा होती है, और जितना अधिक परिग्रह होता है उतना ही अधिक पाप लगा करता है। अतएव हे भगवान्! मैं प्रार्थना करता हूँ और अपने हृदयमें बार-बार भावना करता हूँ कि मुझसे पाँचों पापोंका त्याग हो जाय। मैं हिंसाका सर्वथा त्याग कर दूँ तथा अन्य समस्त पापोंका भी त्याग कर दूँ। हे भगवान्! मैं समस्त पापोंका त्याग कर अपने ही आत्मामें लीन हो जाऊँ। यही मेरी भावना है॥ ११॥

I will not distress any creature whatever, and I will never utter false-hood under any circumstances I will not appropriate away the wealth or the wife belonging to some one else and I will always drink the delicious nectar in the shape of contentment. (11)

आगे सन्तोष धारण करनेकी भावना दिखलाते हैं—

बुध्यादिवृद्धान् वरधार्मिकान् हि,
तुष्यामि दृष्ट्वा जननीव पुत्रम्।
प्राणेष्वहं सत्सु गतेषु नैव,
क्षुभ्यामि कुप्यामि कदापि लोके॥ १२॥

संस्कृतार्थः—यथा जननी सुतं दृष्ट्वोल्लसति तथैवाहं गुणगुरून् धार्मिकबंधुजनांश्च दृष्ट्वा आनंदतुंदिलो भविष्यामि, तथा प्राणेषु गतेषु सत्स्वपि लोके अस्मिन् जगति कदापि नैव क्षोभं गच्छामि, नैव क्रोधं करिष्यामि, संसारकारणत्वादेतेषां कषायाणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार माता पुत्रको देखकर प्रसन्न होती है उसी प्रकार मैं सम्यग्ज्ञान आदि श्रेष्ठगुणोंसे वृद्ध ऐसे श्रेष्ठधार्मिकपुरुषोंको देखकर प्रसन्न और सन्तुष्ट होऊँगा। मैं अपने प्राण जानेपर भी कभी क्षोभको प्राप्त नहीं होऊँगा और न इस लोकमें प्राण जानेपर भी कभी क्रोध करूँगा ॥१२॥

भावार्थ—जो मनुष्य जैसा होता है वह वैसे ही मनुष्योंसे प्रसन्न रहता है, जो धर्मात्मा होता है वह धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होता है, जो विद्वान् होता है वह अन्य विद्वानोंको देखकर प्रसन्न होता है। इसीलिए हे भगवन्! मैं विद्वान् धर्मात्माओंको देखकर अत्यन्त प्रसन्न होनेकी भावना करता हूँ, तपस्वियोंको देखकर अत्यन्त सन्तोष धारण करनेकी भावना करता हूँ, तथा अन्य धर्मात्माओंको देखकर भी अत्यन्त प्रसन्न होनेकी भावना करता हूँ। हे प्रभो! यदि धर्म साधन करते हुए मेरे प्राण भी चले जायँ तो भी मेरे आत्मामें कभी क्षोभ वा क्रोध उत्पन्न न हो, इसी भावनाको मैं सदा धारण करता हूँ ॥ १२ ॥

In this world I will never be moved by passions. I will never be angry even at the cost of life and I will feel satisfied by seeing the best of religious persons and persons worthy to be held in respect in point of intellect etc. as a mother would (feel satisfied) after seeing her own son.

(12)

आगे ध्यानकी भावना दिखलाते हैं—

भवेद्धि चैवं मम शुद्धबुद्धिः,
शास्त्रानुकूलः परिणामवेगः ।
निजात्मध्याने च भवामि लीनः,
स्वराज्यहेतोरिति चिन्तयामि ॥ १३ ॥

संस्कृतार्थः—एवं आत्मविशोधनार्थं मम निर्मला बुद्धिः भवेत्, तथा आगामानुसारी परिणामप्रवृत्तिः स्यात्, सदा परसंकल्प विकल्पविवर्जिते स्वात्मध्याने लीनो भवामि इति सर्वदा चिंतयामि यस्मात् स्वात्मराज्यस्य प्राप्तिर्भवेत् ॥ १३ ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार मेरी बुद्धि सदा शुद्ध बनी रहे। मेरे परिणामोंकी प्रवृत्ति सदा शास्त्रानुकूल बनी रहे और मैं अपने आत्माके ध्यानमें सदा लीन बना रहूँ, इस प्रकार अपने आत्मरूप स्वराज्य वा मोक्षकी प्राप्तिके लिए मैं सदा चिन्तवन करता हूँ ॥१३॥

भावार्थ—हे प्रभो ! मैं भावना करता हूँ कि मेरी बुद्धि राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि समस्त विकारोंसे रहित होकर सदा काल शुद्ध बनी रहे। इसका भी कारण यह है कि राग द्वेष आदि विकार ही इस आत्माको दुःख देने वाले हैं। यदि इन विकारोंका नाश हो जाय तो यह आत्मा शुद्ध होकर अत्यन्त सुखी हो सकता है। इसी प्रकार मैं अपने परिणामोंकी सदा काल शास्त्रानुकूल रखना चाहता हूँ। वीतराग सर्वज्ञ अर्थात् शुद्ध चिद्रूपमय विश्वोपकारी परमात्मा देवके कहे हुए शास्त्रोंसे प्रतिकूल चलना, पंच परावर्तन रूप संसारमें परिभ्रमण करना है। इसलिए मैं सदाकाल शास्त्रानुकूल चलना चाहता हूँ। हे प्रभो ! मैं संसारके समस्त संकल्पविकल्पोंका त्याग कर केवल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होना चाहता हूँ तथा जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त न हो तब तक मैं उस मोक्षको प्राप्त करनेके लिए

सदाकाल प्रयत्न करता रहूँगा। इसके लिए मैं ध्यान, तपश्चरण आदि आत्माको शुद्ध करने वाले समस्त कार्य करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥ १३ ॥

I shall always ponder for the purpose of the obtainment of the supremacy of the soul, and I shall always be unified in the concentration of my own self and my intellect may also be pure and the velocity of my thoughts may prove to be in consonance with the sacred lores (Shastra). (13)

आगे क्रोध और प्रमादको दूर करनेकी भावनाको कहते हैं—

त्यक्त्वा प्रमादं स्वपरार्थशान्त्यै,
यत्नं यथाशक्ति करोमि नित्यं ।
मैत्र्यादिबुद्धया सह सर्वजीवै,
वर्ते च कोपादिविनाशहेतोः ॥ १४ ॥

संस्कृतार्थः—एवं प्रमादं त्यक्त्वा स्वस्य परस्य तथा लोकस्य शान्त्यै सदा यत्नं करोमि, क्रोधादि कषायाणां विनाशार्थं समस्त प्राणिभिः सह मैत्रीं धारयामि तथा तान् दृष्ट्वा प्रमोदं यास्यामि ॥ १४ ॥

अर्थ—मैं अपने प्रमाद छोड़कर अपने आत्माको शांति प्राप्त करानेके लिए अपनी शक्तिके अनुसार सदा प्रयत्न करता रहूँ और क्रोधादिक कषायोंको नाश करनेके लिए मैं समस्त जीवोंके साथ मित्रताका बर्ताव करूँ वा उनको देखकर प्रसन्न होऊँ ॥१४॥

भावार्थ—इस संसारमें प्रमाद और कषाय ये दोनों ही आत्माका कल्याण नहीं होने देते। प्रमाद आत्माको अपना कर्तव्य पालन नहीं करने देता और कषाय आत्माको मलिन कर उसे अत्यन्त अशुद्ध और

महादुःखी बना देता है। इसलिए हे भगवन् ! मैं अपने प्रमादको दूर-कर अपने कर्तव्यमें लीन होना चाहता हूँ और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंका त्यागकर अपने आत्माको शुद्ध करना चाहता हूँ। जब मेरा यह आत्मा प्रमाद और कषाय दोनोंसे रहित हो जायगा तब वह परमशांत हो जायगा और समस्त जीवोंके साथ मैत्री धारण करनेसे हिंसादिक समस्त पापोंका त्याग हो जाता है और पापोंका त्याग होनेसे इस आत्माका शीघ्र ही कल्याण हो जाता है ॥ १४ ॥

I shall behave for the extermination of anger etc. having abandoned indolence I shall ever endeavour to the best of my power for the purpose of appeasement of my soul as also that of others and will maintain a sense of freindliness towards all beings. (14)

आगे दया पालन करनेकी भावनाका चिंतवन करते हैं—

दीनान् दरिद्रान् पतितांश्च जीवान्,
दृष्ट्वा ममात्मा हि भवेद्दयार्द्रः ।
उद्धारहेतोश्च करोमि यत्नं,
सुखाय तेषां हितचिन्तनं वा ॥ १५ ॥

संस्कृतार्थः—पुनश्च इंद्रियविकलतया किंवा व्याधिग्रस्त त्वात् दीनान् स्वोपजीविकासाधनरहितान् दरिद्रान्, जातीय मर्यादोल्लंघनात् किंवा स्वशील-भंगेन पतितान् जीवान् दृष्ट्वा मम चेतसि अनुकंपा उद्भवतु तथा तेषां उद्धरणार्थं कष्टशमनार्थं वा अहं प्रयत्नं करोमि, सदा तेषां केन मार्गेण सुखं स्यादिति चिंतयामि ।

अर्थ—दीन दरिद्री और पतित जीवोंको देखकर मेरे आत्मामें सदा दया उत्पन्न होती रहे, उनके उद्धारके लिए मैं सदा प्रयत्न

करता रहूँ और उनके सुखके लिए व उनके हितका सदा चिंतवन करता रहूँ ॥१५॥

भावार्थ—इस संसारमें जो दीन दरिद्री होते हैं वे सब अपने अशुभ कर्मोंके उदयसे होते हैं। तथा इसीलिए वे अत्यन्त दुःखी होते हैं। ऐसे दुखियोंको देखकर भव्य जीवोंको अवश्य दया करनी चाहिए। यद्यपि दया करनेसे उनका दुःख दूर नहीं होता, उनका दुःख तो उनकी सहायता करनेसे होता है। तथापि दुःखी जीवोंको देखकर दया धारण करनेसे अपना आत्मा भी उन पापोंसे बचनेका प्रयत्न करता है। यदि उस समय वह आत्मा उन दुखियोंकी सहायता करता है वा उनको सुख पहुँचता है तो वह अपना पुण्यकर्मका बंध करता है, और इस प्रकार वह आत्मा अपने अपने आत्माका कल्याण कर लेता है। अतएव हे भगवन्! मैं सदाकाल दुखी जीवोंपर दया करनेकी भावना करता हूँ और उनका उद्धार करने और उनको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करता हूँ ॥१५॥

My soul will be all compassion at the sight of the weak, the poor and the fallen creatures. I shall ever endeavour for the upliftment and shall always meditate upon their happiness and their benefactions. (15)

आगे माध्यस्थ भावनाको कहते हैं—

कुमार्गमूढान् विपरीतजीवान्,
दृष्ट्वा ममात्मा न कदापि कुप्येत्।
संतोषतोयं पिबताद्धि नित्यं,
नेतुं सुमार्गे च यतेत तान् वा ॥ १६ ॥

संस्कृतार्थः—ये च मिथ्यामार्गे संलग्नाः अर्थात् आत्महित प्रत्यनीक-

विषये मोहिता मदांधाः तान् दृष्ट्वा मा क्रुध्यतां, माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ इत्यनुशासनात् । यश्च स्वपरात्महितैषी सदा आत्मानन्दरसं पिबति, स च सर्वानपि एवं संस्थापयितुं यतते न तु पतितान् प्रति कुप्यति, इति तादृशी भावना प्रदेया ॥१६॥

अर्थ—जो कुमार्गमें चलनेवाले अज्ञानी तथा धर्मसे विपरीत चलनेवाले जीव हैं उनको भी देखकर मेरे आत्मामें कभी क्रोध उत्पन्न न हो और सन्तोषरूपी जलको सदा पीता रहे अथवा उनको सुमार्गमें लानेके लिए सदा प्रयत्न करता रहे ॥१६॥

भावार्थ—यह बात ठीक है कि जो मनुष्य समझदार होकर भी धर्मसे विपरीत चलते हैं उनको देखकर थोड़ा बहुत क्रोध उत्पन्न होता है परन्तु वह क्रोध व्यर्थ है। उस क्रोधसे उसका तो कुछ भला होता नहीं, न उसका विपरीत मार्ग ही छूटता है किन्तु उस क्रोधसे केवल अपना आत्मा मलिन अवश्य हो जाता है। अतएव क्रोध न कर उसको समझाना चाहिए। यदि वह समझानेपर भी अपना हठ नहीं छोड़ता है तो समझना चाहिए कि उसके मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय है। इसलिए वह सुलट नहीं सकता। अथवा उसका होनहार ही अच्छा नहीं है। यही समझकर अपने आत्मामें संतोष धारण करना चाहिए। तथा धर्मका यथार्थ उपदेश देकर ऐसे लोगोंको धर्मपर लानेका प्रयत्न करने चाहिए। यदि ऐसे जीवोंमें से दो चार जीव भी धर्मके अनुकूल चलकर अपने आत्माका कल्याण कर लें तो अपने जन्मभरका परिश्रम सफल समझना चाहिए ॥१६॥

On seeing creatures who have stroved away amiss and who are treading the paths of the evil, my soul will never fal irritated and I sball ever make efforts to make him drink the waters of contentment and to lead him on to a better channel. (16)

आगे प्रमोदभावनाको कहते हैं—

संतोषमंत्रं जपतो गुणाढ्यान्,
पूज्यांश्च दृष्ट्वा बहुहर्षयुक्तः।
भवेद्धि तृप्तो मम चांतरात्मा,
तेषां सुसेवां विनयं च कृत्वा ॥ १७ ॥

संस्कृतार्थः—आत्मानन्दमन्त्रं जपतः स्मरतः सदा गुणगुरून् पूज्यान् दृष्ट्वा आनन्दतुंदिलस्सन् प्रसन्नचेतसा तेषां आदरातिथ्यं कर्तव्यम्, गुणिषु प्रमोदमिति वचनात्। तेषां गुणगुरूणां सेवा, विनयं च कृत्वा अयं अन्तरात्मा संतर्पणीयः। उक्तं च "सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" ॥१७॥

अर्थ—जो गुणी और पूज्य पुरुष सन्तोषरूपी मंत्रका जप करते रहते हैं उनको देखकर मेरा अंतरात्मा सदा हर्ष व प्रमोद धारण करता रहे तथा उनकी सेवा और विनय करके अत्यंत तृप्त होता रहे ॥१७॥

भावार्थ—जो जीव अत्यंत संतोषी हैं जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंका त्याग कर दिया है। अथवा जो शुद्ध चिद्रूप स्वधनको, रत्नत्रयको धारण कर परमपूज्य हो गये हैं अथवा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंको धारण कर पूज्य हो गये अथवा जिनको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका प्रतिभास हो गया है अथवा जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहते हैं ऐसे गुणी पूज्य पुरुषोंको देखकर प्रमोद वा हर्ष प्रगट होना धर्मात्माका स्वाभाविक गुण है। मनुष्य मनुष्य सब समान होते हैं परन्तु धर्मात्मा पुरुषको देखकर जो विशेष आनंद प्रगट होता है वह उसके धर्मको ही देखकर होता है। तथा ऐसा आनन्द धर्मात्माको ही हो सकता है। धर्मात्मा पुरुष ही धर्ममें प्रेम रखकर ऐसे धर्मात्माओंकी सेवा, सुश्रूषामें लगे रहना अपना कर्तव्य समझते हैं और उसीमें उनको अत्यंत संतोष होता है ॥१७॥

May my [internal] soul feel gratified, much exulting at the sight of the revered and the persons rich with merits concertrating upon the dicta [Mantra] of contentment after showing politeness towards them and after rendering them service. (17)

आगे दोषोंके त्याग करने की भावनाको कहते हैं—

भवेद्गुणग्राह्यमतिर्ममात्मा,
ह्यंधश्च मंदो हि परस्य दोषे ।
स्वप्नेपि भूयादकृतज्ञभावो,
द्वेषो न लोभः हृदि मे कुबुद्धिः ॥ १८ ॥

संस्कृतार्थः—एवं कृता मतिः गुणग्रहणे समर्था भवति तथा चायमात्मा परेषां दोषदर्शने दृष्टिविहीनः अंधः मंदश्चः भवति तथा भगवन् ! मम हृदये अकृतज्ञातायाः कृतघ्नतायाः संचारः स्वप्नेपि न स्यात्, मम चेतसि परासूयात्मको द्वेषः, परधनापहरणात्मको लोभः, परनिंदात्मिका विपरीतदर्शनात्मिका च कुबुद्धिरपि नोद्भवनीया इति मे मतिः ॥१८॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा अपनी बुद्धिमें सदा गुणोंको ग्रहण करता रहे तथा दूसरोंके दोष देखनेमें अन्धा और मंद बना रहे तथा मेरे हृदयमें स्वप्नमें भी अकृतज्ञताके भाव न हो, न द्वेष हो, न लोभ हो और न कभी कुबुद्धि हो ॥१८॥

भावार्थ—जो पुरुष धर्मात्मा होते हैं वे ही आत्माके यथार्थ गुणोंको ग्रहण करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। धर्मात्मा पुरुषोंकी बुद्धि स्वभावसे ही गुणोंकी ओर झुकती है। तथा दोषोंसे सर्वथा दूर रहती है। दोष और गुण परस्पर विरोधी हैं। जो दोषोंको धारण करते हैं वे गुणोंको धारण नहीं कर सकते तथा जो गुणोंको धारण

करते हैं वे दोषोंकी ओर कभी नहीं झुक सकते। दोषी पुरुष दोषोंको ही ग्रहण करते हैं और गुणी पुरुष गुणोंको ही ग्रहण करते हैं। यही समझकर हे भगवन्! मैं सदाकाल गुणोंको ग्रहण करता रहूँ तथा गुणोंमें भी आत्माके रत्नत्रय आदि गुणोंको ही धारण करता रहूँ। दोषोंकी ओर मैं कभी देखना भी नहीं चाहता। हे प्रभो! क्रोधादिक कषाय वा रागद्वेष आदि कोई भी मेरे आत्मामें कभी भी उत्पन्न न हों। यही भावना मेरी सदाकाल बनी रहे ॥१८॥

May the sensibility of my soul be one for appreciating all meritoriousness. May the same be blind and indolent in looking to the desmerits of others and may it not have the sense of ungratefulness even in a dream and may there not be jealousy, greed, and pervertedness in my heart. (18)

आगे स्तुति निंदामें हर्ष विषादके त्यागकी भावनाको कहते हैं—

ये केऽपि निंदंति च मां स्तुवंति,
न तेषु द्वेषो न भवेद्धि हर्षः।
ज्ञानामृतं मे पिबतान्निजात्मा,
लाभो न हानिः स्तुतिनिंदयोर्मे ॥ १९ ॥

संस्कृतार्थः—लोके ये केपि परगुणासहनशीला दुर्गुणग्रहणशीलाश्च दुर्जना यदि मां निंदंति चेत्तर्ह्यपि तेषां प्रति मम चेतसि द्वेषो नास्ति, तथा गुणग्रहणशीलाः सज्जनाः यदि मम स्तवनं कुर्वंति तर्ह्यपि तत्स्तवनेन प्रमोदमपि न गंतव्यम्, केवलं ज्ञानामृतं निजानंदरसं पिबन् आत्मा आत्मनि लीनः स्यात्। परेषां स्तवनेन न लाभः, नापि निंदया हानिश्च संजायते। तर्हि किमर्थं आत्मनि संक्लेशभावसंधारणं ? ॥ १९ ॥

अर्थ—यदि कोई पुरुष मेरी निन्दा करें तो उनसे मेरा यह

आत्मा कभी द्वेष न करे और यदि कोई मेरी स्तुति करे तो उनमें भी मेरा आत्मा हर्षित न हो। यह मेरा आत्मा सदा ज्ञानरूपी अमृतका पान करता रहे। क्योंकि स्तुति करनेमें मेरा कोई लाभ नहीं है और निन्दा करनेमें मेरी कोई हानि नहीं है ॥१९॥

भावार्थ—जो पुरुष आत्मज्ञानसे रहित होते हैं वे ही पुरुष अपनी स्तुति प्रशंसा सुनकर हर्षित होते हैं और अपनी निन्दा सुनकर विषाद करते हैं। इसका भी कारण यह है कि वे आत्माके स्वरूपका महत्त्व नहीं समझते और केवल लौकिक विभूतिको ही उत्तम तथा सुखका कारण समझते हैं। इसीलिये वे दूसरोंके द्वारा की हुई स्तुतिमें हर्ष विषाद करते हैं। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सुखका कारण ज्ञान है। और ज्ञानमें भी आत्मज्ञान अनन्तसुखका कारण है। अतएव इस आत्माको हर्ष विषादका त्यागकर अपने आत्मज्ञानमें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही आत्माके कल्याणका कारण है ॥१९॥

May there not be either jealousy or joyfulness to me even when any one would censure or extol me. May my soul drink the nectar in the shape of knowledge and may there be no gain or disadvantage to me by either compliment or censure. (19)

आगे शांति और परमार्थबुद्धिकी भावनाको कहते हैं—

वर्द्धेत लक्ष्मो भुवि मे क्षयेद्वा,
कटुंबवर्गोऽपि भवेत्तथैव ।
तथापि चित्ते सुखशांतिराज्यं,
सदैव भूयात्परमार्थबुद्धिः ॥ २० ॥

संस्कृतार्थः—जगति लक्ष्मी चंचला इति प्रसिद्धा। सा यथेष्टं समा-

दिशतु वा गच्छतु, कुटुंबवर्गस्य स्वबांधवानामपि संयोगो भवतु वियोगो वा तथापि मनसि विकाररहितमनाकुलं सुखशांतिराज्यं निवसतु, तथा सदा सर्वदा सन्मार्गे मम विवेकस्य संयोगो भवतु ।। २० ।।

अर्थ—इस लोकमें मेरी लक्ष्मी बढ़ जाय वा नष्ट हो जाय। इसी प्रकार कुटुंबवर्ग भी बढ़ जाय या नष्ट हो जाय, तथापि मेरे हृदयमें सदा सुख-शांतिका राज्य बना रहे और मेरी बुद्धि सदा परमार्थरूप बनी रहे वा परमार्थमें लगी रहे ।।२०।।

भावार्थ—मनुष्यको यह सदाकाल विचार करते रहना चाहिए कि लक्ष्मी वा कुटुंबका घटना-बढ़ना अपने हाथमें नहीं है। लक्ष्मी वा कुटुंबका घटना-बढ़ना तो कर्मोंके आधीन है। यही समझकर भव्य जीवोंको लक्ष्मी वा कुटुंब वृद्धिमें कभी हर्ष नहीं करना चाहिए और उसकी हानिमें कभी विषाद नहीं करना चाहिए। किन्तु दोनों अवस्थाओंमें अपने परिणामोंको शांत रखना चाहिए। परिणामोंको शांत रखनेमें सदा सुखकी प्राप्ति होती रहती है। तथा परिणामोंको शांत रखनेसे इस आत्माका परलोक भी सुधरता है और यह आत्मा मोक्षमार्गमें लग जाता है। हे भगवन्! मेरे परिणाम भी सदा शांत रहें ऐसी मैं भावना करता हूँ ।। २० ।।

May I be one having an inclination to oblige everybody for all time to come and, even, if on this earth, my wealth increases or decreases and similary whether the group of my family also may participate the same state, even then, there may be the prevalence of the supremacy of peace and happiness in my heart. (20)

आगे चिन्ताके त्यागकी भावनाको कहते हैं—

चिंता न मृत्योर्न च जीवनस्य,

साम्राज्यलक्ष्म्याश्चपलप्रकृत्याः ।

भवेद्धि मृत्युः समयानुसारे,
न चिंतया मे भुवि चान्यथैव ॥ २१ ॥

संस्कृतार्थः—मे मृत्यो चिंता नास्ति, नापि जीवनस्याभिलाषा विद्यते। पवनवत् चंचलस्वरूपस्य नाशशीलस्य वा राज्यस्यापि चिंता मे न विद्यते। भवांतिके यथासमयं मृत्युश्च भवेदेव, चिंतया किं प्रयोजनम् ? तस्मात् मे यथासमयं मृत्युः स्यात् अथवा असमये मृत्युः स्यात् इति चिंता न विद्यते ॥२१॥

अर्थ—मुझे न तो मृत्युकी चिन्ता है न जीवनकी चिन्ता है और न स्वभावसे ही चंचल ऐसी साम्राज्यलक्ष्मीकी चिन्ता है, मेरी मृत्यु समयपर हो अथवा असमयमें ही हो मुझे इस संसारमें इसकी कोई चिन्ता नहीं है ॥ २१ ॥

भावार्थ—इस संसारमें अनेक जीव अपने जीवन-मरणकी चिन्ता करते रहते हैं। परन्तु उस चिन्तासे आत्माका कोई कल्याण नहीं होता, किन्तु चिन्ता करनेसे आत्माके परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न होती है। जीवन-मरण दोनों ही कर्मोंके आधीन हैं इसलिए भी उन दोनोंकी चिन्ता करना सर्वथा व्यर्थ है। यही समझकर चिन्ताका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा समाधिमरण धारण करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ २१ ॥

I may not have the anxiety of death or of life as also I may not have the same for the wealth of the whole world which is futile may I have my death in consonance with time and I may not have any anxiety of any other character in the whole world. (21)

आगे अपने धर्मसे वा स्वभावसे चलायमान न होनेकी भावना दिखलाते हैं—

ये केपि मह्यं हरियक्षमर्त्या,
दुःखं हि दद्युर्यदि वा तथापि ।

स्वराज्यसौख्यात्स्वपदात्स्वभावात्,
चलामि नाऽहं निजधर्ममार्गात् ॥ २२ ॥

संस्कृतार्थः—यः कोपि मम इंद्रः, यक्षः अथवा क्रूरचेता मनुजो वा यथेच्छं दुःखं प्रयच्छतु, तथाप्यहं स्वात्मसाम्राज्यात् आत्मपदावलंबितशुद्ध-परिणामात् अथवा परमशांतिमयात्मधर्मप्रवृत्ति मार्गात् चंचलत्वं च्युतत्वं वा न वास्यामि ॥ २२ ॥

अर्थ—कोई सिंह व्याघ्र आदि पशु वा यक्ष वा कोई मनुष्य चाहे मुझे कितना ही दुःख देवे तथापि मैं अपने आत्मजन्य स्वराज्यके सुखसे वा आत्माके शुद्धस्वरूपसे अथवा अपने आत्माके रत्नत्रयरूप स्वभावसे अथवा अपने धर्म मार्गसे कभी चलायमान नहीं होऊँगा ॥ २२ ॥

भावार्थ—इस संसारमें प्राणियोंको जो दुःख प्राप्त होता है वह अपने-अपने कर्मोंके उदयसे प्राप्त होता है। यद्यपि उसमें कोई पशु रोग यक्ष वा मनुष्य निमित्त कारण अवश्य होता है, परन्तु उसमें मुख्य कारण अशुभ कर्मोंका उदय ही होता है। यदि यह संसारी जीव इस संसारके दुःखोंसे छूटना चाहता है तो उसे समस्त कर्मोंका नाश कर डालना चाहिए। तथा उन कर्मोंका नाश अपने आत्माके रत्नत्रयरूप धर्मसे ही होता है। अतएव दुःखोंको दूर करनेके लिए इस जीवको रत्नत्रयका पालन करना चाहिए। भारीसे भारी दुःख आ पड़ने पर भी इस जीवको अपने रत्नत्रयरूप धर्ममें ही लीन रहना चाहिए, उस धर्मसे कभी चलायमान नहीं होना चाहिए। तथा आगे कभी भी उस रत्नत्रयरूप धर्मसे चलायमान न होनेकी भावना रखनी चाहिए ॥ २२ ॥

I may not swerve away from the path of my duties and from the supremacy of my soul and from my happiness and from my nature and from the comfirmed chara-

cter of my soul even if God Hari or yaksha or any mortal being may cast upon me meseries. (22)

आगे समता धारण करनेकी भावना कहते हैं—

अक्षादिसौख्ये च विनाशभूते,
तुष्येन्न कुप्येन्सम किंतु चात्मा ।
निजात्मसौख्यं न भवेद्धि याव,
द्वर्तेत नित्यं समशांतभावैः ॥ २३ ॥

संस्कृतार्थः—नाशशीले पचेंद्रियविषयभूते सौख्ये ममात्मा मा तुष्यतु मा रुष्यतु । यावन्न स्वात्मसाम्राज्यसौख्यमवाप्नोत्ययं तावत् हर्षविषादरोगभोगसुखदुःखादिदशायां समतापरिणतिं शांतवृत्तिं चावसादयतु ॥२३॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा अवश्य नाश होनेवाले इन्द्रियोंके सुखोंमें न कभी सन्तुष्ट होवे न कभी क्रोधित होवे किन्तु जबतक आत्मजन्य सुख प्राप्त नहीं होता तबतक यह मेरा आत्मा समतापरिणामरूप वा शान्तपरिणामरूप प्रवृत्ति करता रहे ॥२३॥

भावार्थ—इन्द्रियोंके सुख क्षणभंगुर हैं देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं । इसके सिवाय इस संसारमें पापोंको उत्पन्न करनेवाले ये इन्द्रिय सुख ही हैं । संसारमें जितने पाप होते हैं वे सब इन इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिए ही किये जाते हैं । यही समझकर समझदार भव्य जीवोंको इनके प्राप्त होनेपर अनुराग नहीं करना चाहिए और इनके वियोग होनेपर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए । किन्तु दोनों अवस्थाओंमें समता और शांति धारण करनी चाहिए । किसी भी पदार्थसे वा किसी भी जीवसे राग द्वेष न करना समता है । और अपने परिणामोंको शांत रखना शांति है । ये दोनों ही मोक्षके कारण हैं । इसलिए मोक्ष प्राप्त होने तक इन दोनोंका पालन करते रहना चाहिए ॥२३॥

May my soul be not satisfied or be enraged at the regainment of eternal happiness as also the destruction of the same, it may continue to behave with feelings of peace and equilibranm as long as it has not attained the complascenee of the soul. (23)

आगे भयके त्यागकी भावना बतलाते हैं—

वापीनदीभ्यो गिरिकंदरेभ्यो,
व्याघ्रादिसिंहैरहिभीमजन्तोः ।
कदापि चात्मा विभियान्न मे हि,
सर्वत्र गच्छेन्निजराज्यहेतोः ॥ २४ ॥

संस्कृतार्थः—ममात्मा वापीनद्यादिस्थावरभयकारणेभ्यः तथा च व्याघ्रादिजंगमप्राणिभ्यश्च न विभियात्, सर्वत्र आत्मराज्यप्राप्त्यर्थं अभयं गच्छेत् । अनन्तशक्तियुतात्मनः कुतो भयम् ? ॥२४॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा बावड़ियोंसे, नदियोंसे, पर्वतोंसे, गुफाओंसे, सिंहोंसे, व्याघ्रोंसे और सर्पादिक भयानक जीवोंसे भी कभी भयभीत न हो किन्तु अपने शुद्ध आत्मरूप राज्यकी प्राप्तिके लिए सर्वत्र गमन करता रहे ॥२४॥

भावार्थ—इस संसारमें कर्मोंके उदयको कोई नहीं रोक सकता। जिस कालमें, जिस देशमें, जिस रूपसे कर्मोंका उदय होता है वह होकर ही रहता है वह कभी रुक नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें पहलेसे ही भय करना सर्वथा व्यर्थ है। भय करनेसे केवल अशुभ कर्मोंका बंध होता रहता है, परन्तु भय करनेसे होनहार कभी नहीं रुक सकती। इसीलिए संसारमें जितने भय हैं उन सबका त्याग कर आत्मचिन्तनमें लगे रहना चाहिए। आत्माके रत्नत्रयादिक गुणोंका चिंतवन करते रहना चाहिए। रत्नत्रयको धारण करनेसे सब प्रकारके

भयोंसे रहित मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही समझकर मैं अपने आत्मामें सदा निर्भय रहनेकी भावना करता हूँ ॥२४॥

May not my soul ever entertain any fear from the wells [Wapi], from rivers, from mountains and caves, may it not do so from tigers, lions, reptiles and other earthly animals and may it proceed on every where for the obtainment of the supremacy of his soul. (24)

आगे अपनी आत्मामें लीन होने की भावना बतलाते हैं—

निजात्मधर्मे स्वपदे स्वसौख्ये,
स्वात्मा भवेन्मे ह्यचलश्च तृप्तः।
निष्कम्पशांतश्चतुरश्च तुष्ट-
स्तत्रैव पुष्टश्च सुखी च गुप्तः ॥ २५ ॥

संस्कृतार्थः—स्वात्मपदे स्वानन्दसाम्राज्यस्थाने ज्ञानामृतं पिबन्नयमात्मा सदा तृप्तो भवेत्। तत्र चंचलत्वाभावादचलः धैर्यावलम्बनत्वादकंपः, हेयादेयविवेकयुक्तत्वाच्चतुरः संतोषावलम्बनत्वात् तुष्टः पुष्टश्चः, आकुलता-रहिततत्त्वात् सुखी, तथा गुप्तश्च भवेत् इति मे आत्मराज्याश्रयणमेव श्रेय इति भावः ॥२५॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा अपने आत्मधर्ममें वा अपने शुद्ध आत्मामें अथवा अपने आत्मजन्य सुखमें सदा अचल बना रहे, तृप्त बना रहे, चलायमान रहित शान्त बना रहे, चतुर बना रहे, उन्हींमें पुष्ट बना रहे, उन्हींमें सुरक्षित बना रहे ॥ २५ ॥

भावार्थ—जब यह आत्मा समस्त राग द्वेषका त्याग कर वा समस्त संकल्प विकल्पोंका त्याग कर अपने आत्मामें लीन हो जाता है जब वह अपने आप निश्चल हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि आत्मामें जो प्रति समयमें आकुलता बनी रहती है वह संकल्प

विकल्प वा रागद्वेषके कारण ही होती है। राग द्वेष वा संकल्प विकल्पोंका त्याग करनेसे वह आकुलता अपने आप नष्ट हो जाती है, तथा आकुलता नष्ट होनेपर यह आत्मा अपने ही आत्मामें निराकुल और निश्चल हो जाता है निश्चल होनेपर वह सुखी भी अपने आप हो जाता है ॥२५॥

May my soul be unshakeable and satiated in the performance of his own duties, in the basis of his own soul and in his own happiness may it be well contented, well feel, happy, protected, unmoved appeased and full of versatility. (25)

आगे राग द्वेष त्याग करनेकी भावना दिखलाते हैं—

प्रियाऽप्रियं वस्तु विलोक्य तुष्ये-
त्कुप्येन्ममात्मा न कदापि नूनम् ।
स्वकर्मणां तीव्रशुभाशुभानां,
क्षयोदयाभ्यां प्रतिभासते मे ॥ २६ ॥

संस्कृतार्थः—संसारेऽस्मिन् इष्टवियोगानिष्टसंयोगसमये विवेकवर्जनमेव दुःखं वरीवर्ति, तत्र वस्तुस्वभावं विचार्य प्रियं इष्ट हृद्यं सुखकारणं पुत्रकलत्रादिकं दृष्ट्वा संतोषातिरेकं न गच्छेत् एवं अप्रियमनिष्टं दुःखकारकं अरिविषकंटकादिकं दृष्ट्वा क्रोधं न गच्छेत्, पदार्थेषु सुखदुःखकारणत्वं प्रकृत्या न विद्यते, किंत्वयं जीवः स्वमनोरथसिद्धयर्थं तान् इष्ट रूपेणानिष्टरूपेण च परिणमयति अथवा स्वेष्टसिद्धचर्थं इष्टानिष्टरूपेण तान् मनुते, अत्र पूर्वोपत्तिशुभाशुभानां कर्मणा क्षयादिकमेव कारणमिति चिंतनीयम् ॥२६॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा प्रिय वस्तुको देखकर कभी भी संतुष्ट न हो तथा अप्रिय वस्तुको देखकर कभी क्रोध न करे किन्तु यही विचार करते रहे कि प्रिय पदार्थ अपने तीव्र शुभ कर्मोंके उदयसे तथा अशुभ

कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होते हैं और अप्रिय पदार्थ अपने शुभ कर्मोंके क्षयसे और तीव्र अशुभ कर्मोंके उदयसे प्राप्त होते हैं अथवा तीव्र शुभ अशुभ कर्मोंके क्षय वा उदयसे सब प्रिय वा अप्रिय प्रतीत होते हैं ॥२६॥

भावार्थ—वास्तवमें देखा जाय तो इस संसारमें कोई भी पदार्थ न तो प्रिय है और न अप्रिय है किन्तु राग द्वेषके कारण प्रिय और अप्रिय जान पड़ते हैं। देखो, दूध अनेक मनुष्योंको प्रिय होता है परन्तु कितने ही मनुष्य उस दूधसे घृणा करते हैं, उसे अप्रिय समझते हैं। दूध एक ही है परन्तु वह एकको प्रिय है, दूसरेको अप्रिय है। इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थ अपेक्षाकृत प्रिय-अप्रिय हैं तथापि शुभकर्मके उदयसे प्रिय पदार्थोंका समागम मिलता है और अशुभ कर्मोंके उदयसे अप्रिय पदार्थोंका समागम मिलता है। यही समझकर आत्मज्ञानी पुरुष न तो प्रिय पदार्थोंसे राग करते हैं और न अप्रिय पदार्थोंसे द्वेष करते हैं। आत्मज्ञानी पुरुष तो दोनोंमें समता धारण कर आत्मकल्याणमें लग जाते हैं ॥२६॥

Verily May my soul not feel ever contented or irretated at the sight of agreable or disagreable things, and may it always regard that (all there) appear to me to be the out come of the destruction or asendency of good or bad actions of a potential character perpetrated by myself. (26)

आगे समस्त जीवोंके सुखी होनेकी भावना कहते हैं—

सर्वेऽपि जीवा इह जीवलोके,
सदा भवेयुः सुखिनः सधर्माः।
स्वात्मानुभूतेः स्वरसं पिबन्तु,
मुंचन्तु शीघ्रं कुटिलं विचारम् ॥ २७ ॥

संस्कृतार्थः—मे एतादृशी भावना विद्यते, अत्र संसारे सर्वे जीवाः सुखिनो भवन्तु, तथा सधर्माः अहिंसावादिनः परोपकारनिरताश्च भवन्तु, ततश्च स्वात्मानुभवोत्पन्नज्ञानामृतरसं यथेच्छं पिबन्तु कामक्रोधादिकषाय-जनितकुटिलविचारं दूरेणोत्सृजंतु ॥२७॥

अर्थ—इस संसारमें सभी जीव सुखी हों, सभी धर्मात्मा हों, सभी जीव अपनी आत्मानुभूतिसे उत्पन्न हुए आत्मरसका पान करते रहें और सभी जीव अपने कुटिल विचारोंका त्याग कर दें ॥२७॥

भावार्थ—ऐसी भावनाको अपायविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो संसारके सभी प्राणी दुखी हैं, निराकुल सुखी कोई नहीं है। तथा यह निश्चित है कि दुखकी प्राप्ति पापोंसे होती है। ये जीव जब तक पापोंका त्याग नहीं करते तबतक कभी भी दुःखोंसे नहीं छूट सकते। यही समझकर सब जीवोंसे पापोंके त्याग करानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। उनके कुटिल विचारोंका त्याग कराना चाहिये और उनको भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए धर्ममें लगाना चाहिए। धर्ममें लगनेसे उनके पाप भी छूट जाते हैं पापोंके दूर जानेसे सुखी होते जाते हैं और फिर वे धीरे-धीरे आत्माके शुद्ध-स्वरूपमें लीन होकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥२७॥

May all creatures in this world be happy and religious minded for all time to come and may all drink the felicity of the soul by its realisation, may they also readily Shake-off perverted thoughts. (27)

विरोधवैरं च मिथोऽभिमानं,
स्वार्थादिबुद्धिं च विहाय शीघ्रम् ।
श्रीमांश्च धीमांश्चतुरोऽपि शास्त्री,
भवेत्सदा जैनमतावलम्बी ॥ २८ ॥

संस्कृतार्थः—पुनश्च अत्र धनिका विद्वांसः शास्त्रिणश्च परस्परं वैर-विरोधं मिथ्याभिमानं तथा स्वार्थप्रवृत्तिं च त्यक्त्वा वीतरागशासनोपासनां कुर्वंतु तथा च ते सुखिनः भवेयुः ॥ २८ ॥

अर्थ—इस संसारके समस्त श्रीमान् बुद्धिमान् चतुर और शास्त्री लोग अपने परस्परके बैर-विरोधको छोड़कर तथा परस्परके अभिमानको छोड़कर और अपनी स्वार्थरूप बुद्धिको शीघ्र ही छोड़कर सदा जैनधर्मको सेवन करते रहें ॥ २८ ॥

भावार्थ—इस संसारमें बैर-विरोध दो प्रकारका होता है एक जातिविरोध और दूसरा निमित्त विरोध। जन्मसे ही होनेवाले बैर-विरोधको जातिविरोध कहते हैं। जैसे चूहे-बिल्लीका बैर वा सर्प-नौलेका बैर जातिविरोध कहलाता है। तथा जो विरोध किसी निमित्तसे होता हैं; उसको नैमित्तिक विरोध कहते हैं। इनमेंसे जातिविरोध तो प्रायः उस पर्यायके छूटने पर छूटता है तथा नैमित्तके विरोध उस निमित्तके छूटनेपर छूटता है नैमित्तिक विरोधका कारण प्रायः स्वार्थता है। प्रायः स्वार्थसिद्धिके लिए ही लोग बैर-विरोध बाँध लेते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको सबसे पहले अपने स्वार्थ-का त्याग कर देना चाहिए। स्वार्थका त्याग कर देने पर बैर-विरोधका त्याग अपने आप हो जाता है। तथा स्वार्थका त्याग वीतराग अवस्था धारण करनेसे वा यथार्थ वीतरागधर्मको धारण करनेसे होता है। यही समझकर बुद्धिमान विद्वान् पुरुषोंको वीतराग धर्म धारण कर समता वा वीतराग अवस्था अवश्य धारण कर लेनी चाहिए। आत्म-कल्याण और परमसुखका यथार्थ मार्ग यही है ॥ २८ ॥

May all the wealthy, the intellectual, the versatile, the erudite people of the world become the followers of the

Jain* doctrines for all time to come having abondoned their mutual animosity and animadversion, egotism, may they also readily shake off the sensibility of petty self-interestedness etc. (28)

आगे आवागमन और कर्तव्यकी भावना कहते हैं—

कुत्राऽऽगतोहं गमनीयमस्ति,
कुतः सदा किं करणीयमस्ति ।
एवं स्वशान्त्यै च विचारणीयं,
संसारवृत्तान्तविदा नरेण ॥ २९ ॥

संस्कृतार्थः—स्वात्माभ्युत्थानार्थं प्रत्यहं संसारस्वरूपं विजानता धीमता एवं चिन्तनीयम्—अहं कुतः कुत्रागतः, कुत्र च मम गन्तव्यम् वर्तते । कस्मिन् स्थाने मम शांतिलाभश्च भवेदिति स्वहितमभिवांछन् विचारणीयम् ॥२९॥

अर्थ—संसारके स्वरूपको जाननेवाले मनुष्योंको अपने आत्मामें शान्ति प्राप्त करनेके लिए सदा यह विचार करते रहना चाहिये कि मैं कहाँसे कहाँ आया हूँ और मुझे कहाँसे कहाँ जाना है और इसके लिए मुझे क्या-क्या काम करना है ॥२९॥

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे इस संसारकी चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता चला आ रहा है । एक पर्याय छोड़कर दूसरी पर्याय

---

* The use of the word 'Jain' connotes a person who has attained perfect control over all mortal senses and its objects such as passions, anger etc. It is derived from the sanskrit verb 'Ji' which imparts the meaning the conqueror of the soul having abondoned vanity, partiality, injustice etc. [ये कर्मारातीन् जयन्ति ते जिनाः ।] This does not imply here any preferential reference to any special sect or religion.

धारण करता है दूसरी छोड़कर तीसरी धारण करता है और तीसरीको छोड़कर चौथी धारण करता है। इसी प्रकार चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहता है। जो विद्वान् पुरुष इन चारों गतियोंके परिभ्रमणका स्वरूप समझते हैं उन्हें यह अवश्य देखना चाहिये कि मैं अब किस गतिमें जाने योग्य कर्म कर रहा हूँ? इस संसारमें चार गति है। जो पुरुष सदाकाल धर्मसेवन करता रहता है, प्रायः पाप कर्मोंसे सदा बचता रहता है वह जीव देवगतिका पात्र होता है। जो जीव पापही पाप करता रहता है वह नरकगतिका पात्र होता है। जो जीव पुण्यसंचय अधिक करता है तथा साथमें थोड़े बहुत पाप भी करता रहता है वह मनुष्यगतिका पात्र होता है तथा जो जीव पापसंचय अधिक करता है और साथमें थोड़ा बहुत पुण्य भी करता रहता है वह तिर्यंच गतिका पात्र होता है। इस प्रकार अपने कर्तव्यका विचार करनेसे आगेकी गतिका अनुभव हो सकता है। इसी प्रकार अपने परिणामोंको देखकर पिछिली गतिका भी अनुभव हो सकता है। अत्यंत क्रूर परिणामवाले प्रायः नरकसे आते हैं। अत्यंत मंदकषायको धारण करनेवाले शांत धर्मात्मा जीव प्रायः देवगतिसे आते हैं अथवा उत्तम मनुष्यगतिसे आ सकते हैं। उस प्रकार चारों गतियोंके आवागमनका विचारकर इस जीवको अपने धर्मसाधनका निश्चय करना चाहिये। तथा आत्मकल्याणका उद्योग करना चाहिये। विद्वान् होनेका यही फल है ॥ २९ ॥

It is always fit to be pondered over by a man wellversed in the art of worldlines for the obtainment of the contentment of his own self as to whence I have come ? Where have I to proceed and what is fit to be done by me ?

[29]

आगे विषयोंके त्यागकी भावना बतलाते हैं—

कालं च लब्ध्वा हि निगोदवासा-
दत्रागतोस्म्यात्मतनोश्च धर्मम् ॥
ज्ञात्वेति मुक्त्वा तनुराज्यलक्ष्मी,
मोक्षं हि गन्तुं विषयं न भोक्तुम् ॥ ३० ॥

संस्कृतार्थः—चिरकालं निगोदस्थाने दुःखं भुक्त्वा काललब्धिवशादत्रागतोऽहम् । अत्र च मोक्षसाम्राज्यं गंतुमेवागतोहम् न तु शरीरविषयैहिकराज्यादिसुखोपभोगार्थं, ते च सर्वे नाशशीलाः, सुखाभासाश्च । तस्मात् आत्मानात्मविभागं ज्ञात्वा स्वेष्टसिद्धयर्थं उद्यम कर्तव्यं ॥ ३० ॥

अर्थ—मैं काललब्धिको पाकर निगोदके निवाससे यहाँ मनुष्य लोकमें आया हूँ। यहाँ मुझे उचित है कि मैं अपने आत्मा और शरीरका स्वभाव जानकर शरीर और राज्यलक्ष्मीका त्याग कर तथा मोक्षमें जानेके लिए प्रयत्न करूँ! यहाँ आकर मुझे विषयभोगोंके लिए कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥

भावार्थ—यह जीव महा पाप कर्मके करनेसे निगोदमें जाता है। जब यह निगोदमें पहुँच जाता है तब फिर अनंतकालमें भी उसका निकलना अत्यंत कठिन हो जाता है। जब कभी किसी काललब्धिके निमित्तसे उसमेंसे निकलता है तो अन्य स्थावरोंमें परिभ्रमण करता है। दो इंद्रिय, तेइंद्रिय, चौइंद्रिय तिर्यंच पंचेंद्रियोंमें परिभ्रमण करता है। या देव नारकी भी होता है। परन्तु पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला मनुष्य बड़ी कठिनतासे होता है। यही समझकर तथा शरीर और आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर विद्वान् मनुष्यको ऐसे दुःखमय इस संसारसे विरक्त हो जाना चाहिए तथा विषयभोगोंका त्यागकर और रागद्वेष मोह आदि समस्तविकारोंका त्यागकर मोक्ष

प्राप्त करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए। उत्तम मनुष्यजन्म प्राप्त करनेका यही सर्वोत्तम फल है।

Having obtained an opportunity I have come here from an insignificant life in being (Nigod), therefore, it is worthy of me that having known the duties of the soul and the body should forshake the body and the royal appulance (of the world) for the purpose of attaining absolution and not for the purpose of enjoying worldly passions. (30)

आगे मलिन विचारोंके त्याग और आत्मकल्याणकी भावना कहते हैं—

मिथ्याभिमानं मलिनं विचार-
माशापिशाचं च विहाय शीघ्रम्।
धर्मप्रचारं स्वगतोर्विचारं,
भव्याश्च कुर्युः स्वपरोपकारम् ॥ ३१ ॥

संस्कृतार्थः—ये सम्यग्दर्शनादिभावैर्भवितुं योग्याः ते भव्याः, ते च संसारकारणम् मिथ्याभिमानं मलिनं गर्हणीयम् विचारं लोभातिरेकं च त्यक्त्वा सत्वानां सुखसाधनस्य धर्मस्य प्रचारं कुर्वंति, तथामुत्र कथं सुगतिर्भवेदिति च चिंतयंति। सदा स्वपरोपकारं च कुर्वंति ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस संसारमें भव्यजीवोंको अपना मिथ्या अभिमान, मलिनविचार और आशारूपी पिशाचको शीघ्र ही छोड़कर धर्मका प्रचार करना चाहिये। अपनी गतिका विचार करना चाहिए और सदा परोपकार करते रहना चाहिए तथा अपने आत्माका उपकार वा कल्याण करते रहना चाहिए ॥ ३१ ॥

भावार्थ—इस संसारमें मलिन विचार ही आत्माकी शुद्धताको रोकते हैं। आत्माके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं। अशुभपरिणाम, शुभपरिणाम और शुद्ध परिणाम। अशुभपरिणाम पापके कारण हैं। शुभपरिणाम पुण्यके कारण हैं और शुद्धपरिणाम मोक्षके कारण हैं। इनमेंसे सबसे पहले अशुभ परिणामोंका सर्वथा त्यागकर देना चाहिए। तदनंतर शुभ परिणामोंको धारणकर शुद्ध परिणामोंको धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए। तथा धीरे-धीरे शुभपरिणामोंका भी त्याग कर शुद्ध परिणाम धारण कर लेना चाहिए। शुद्ध परिणामोंको धारण करने मात्रसे यह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है और फिर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ऐसा कृतकृत्य आत्मा ही अपने आत्माका कल्याण कर लेता है तथा अन्य अनेक भव्यजीवोंका कल्याण कर देता है। इसीको स्वपरोपकार कहते हैं। यह निश्चित सिद्धांत है कि जो आत्मा पहले अपने आत्माका कल्याण कर लेता है वही आत्मा अन्य भव्यजीवोंका कल्याण कर सकता है। इसलिए सबसे पहले अपने आत्माको शुद्ध बनाकर उसका कल्याण कर लेना चाहिए। यही आत्मा का परम कर्तव्य है ॥ ३१ ॥

Persons worthy of absolution should perform acts of obligations upon himself and others having readily abondoned egotism of an empty character, the dirty ponderings and the demom in the form of hopings and should (attempt) the spreading of religion and as also the thoughts of one's own condition. (31)

यह आत्मा शुद्ध होनेपर क्या करता है सो दिखलाते हैं—

स्वात्मानुभूत्या निजराज्यधर्मे,
प्रतात्मवासे सुखशांतिपूरे।

क्रीडन्तु तिष्ठन्तु सदैव भव्या,
मिष्टातिमिष्टं स्वरसं पिबन्तु ॥ ३२ ॥

संस्कृतार्थः—पूर्वोक्तभावेन ये भव्याः समाचरंति ते निजात्मानंद-पदमधिकृत्य सुखशांतिपूर्णे चिदानंदस्वरूपे सदा क्रीडंतु तिष्ठंतु, तत्र च अतिमधुरं स्वात्मसुधां पिबंतु ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह अपने आत्माका निवास सुख और शांतिसे भरा हुआ है। और अपने आत्मरूपी राज्यके धर्मसे सुशोभित है ऐसे अपने आत्माके निवासस्थानमें भव्य जीवोंको अपने आत्माकी अनुभूतिके द्वारा सदा क्रीड़ा करते रहना चाहिए, वहींपर ठहरना चाहिए। और वहों ठहरकर मीठे ऐसे अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ रस पीते रहना चाहिए ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जब यह आत्मा शुद्ध होकर अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करने लगता है उस समय उसके बाह्य संकल्प-विकल्प सब छूट जाते हैं। उस समय वह सिवाय अपने आत्माके अन्य किसीको न देखता है और न जानता है। उस समय वह अनंत सुखमय पवित्र और शुद्ध आत्मामें उत्पन्न होनेवाले अनंत सुखका अनुभव करता है।

May the persons fit to obtain absolution ever drink the quentessence of the satisfaction of the soul which is the sweetest of the sweet, may they sport and stand in the out pouring flood of complascence and peace in the resort of the piousness of the soul by the realisation of one's own soul and the duties of one's own self. [32]

आगे समस्त जीवोंके सुखी होनेकी भावना दिखलाते हैं—

ईतिर्विभीतिर्विषकंटकादि-
र्दुःखप्रदो नश्यतु तीव्रमोहः ।

भवेद्धि वृष्टिः समयानुकूला,
नन्दन्तु जीवन्तु सुखेन जीवाः ॥ ३३ ॥

संस्कृतार्थः—संसारेऽस्मिन् ईतिभीत्यादि भयप्रदसाधनानि नश्यंतु, स्वपरभेदविज्ञानविरहित मोहो विलयं गच्छंतु। यथाकालं मघवा वर्षतु, एवं च सर्वे प्राणिनः सुखेन निवसंतु ॥३३॥

अर्थ—इस संसारमें ईति, भीति, विष, कंटक आदि सब नष्ट हो जाय, अत्यंत दुःख देनेवाला तीव्र मोह नष्ट हो जाय, पानीकी वर्षा समयानुसार होती रहे और समस्त जीव सुखपूर्वक जीवित रहें, बढ़ते रहें और आनंदित होते रहें ॥३३॥

भावार्थ—वास्तवमें देखा जाय तो इस आत्माको दुःख देनेवाला मोहनीय कर्म है। क्योंकि मोहनीय कर्मके होने पर ही साता-असाता वेदनीयकर्म इस जीवको सुख दुःख दे सकते हैं। बिना मोहनीय कर्मके साता असाता दोनों ही वेदनीय कर्मके कुछ नहीं कर सकते। जली हुई रस्सीके समान बेकार हो जाते हैं। तथा मोहनीयकर्मके उदय होनेपर ही विष, कंटक, शत्रु, ईति, भीति आदि दुःख देनेवाले साधन मिल जाते हैं। अतएव हे भगवन्! मैं प्रार्थना करता हूँ कि सबसे पहले मेरा मोहकर्म नष्ट हो जाय तथा साथ ही साथ विष, कंटक आदि दुःख देनेवाले साधन भी सब नष्ट हो जाँय। इन दोनोंके नष्ट होने पर मैं अनंत सुखका अनुभव कर सकता हूँ। हे भगवन्! इसी प्रकार अन्य जीवोंके भी दुःख देनेवाले सब साधन नष्ट हो जाँय। तथा जबतक यह मोहनीयकर्म नष्ट नहीं होता तबतक समयानुसार वर्षा होती रहे और मनुष्य तिर्यंच आदि समस्त जीव सुखका अनुभव करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते रहें ॥३३॥

May there be rainfall at all opportune hours and may all the beings exult and live happily may their grave

infatuation which inflits much miseries be destroyed as also their apprehensions in the shape of poison, thorns etc. (33)

आगे राजा प्रजाका धर्म बतलाते हैं—

शीघ्राऽतिशीघ्रं च कुभेदबुद्धिं,
प्रजेत्यसौ मे तनयोऽस्ति मुक्त्वा ।
राजा प्रजां रक्षतु धर्मबुद्ध्या,
निजात्मवद्वा जननीव पुत्रम् ॥३४॥
प्रजा हि शीर्षे नृपतेस्तथाज्ञां,
दध्याद्धि मन्येत च देवतुल्यम् ।
स्वप्नेऽपि तस्याऽविनयं न कुर्या-
त्सुधर्ममूर्तेः खलु दीनबंधोः ॥३५॥

संस्कृतार्थः—राजानश्च प्रजानां पालनं आत्मपुत्रवत् धर्मबुद्धया कुर्वंतु । अथवा आत्मौपम्येन सत्वसंरक्षणं कुर्वंतु । प्रजाश्च स्वशासकस्याज्ञां विनयेन अवधारयंतु । स्वप्नेपि राजाज्ञां नोल्लंघयतु । स्वेष्टसिद्धयर्थं 'राजाहि परदेवता' इत्युक्तत्वात् राजानं देवसदृशं धर्मसदृशे वाराधयंतु । नृपतिश्च दीनबंधु इत्युच्यते तस्य चाविनयं स्वप्नेपि न कर्तव्यम् ॥३४-३५॥

अर्थ—राजा लोगोंको उचित है कि वे लोग शीघ्रसे शीघ्र कुभेद बुद्धिको अपने हृदयसे निकाल डालें "यह मेरी प्रजा है इसलिए मेरे पुत्रके समान है" इस धर्मबुद्धिसे प्रजाकी रक्षा करें । अथवा अपने आत्माके समान प्रजा की रक्षा करें, अथवा जिस प्रकार माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार प्रजाकी रक्षा करें । प्रजाको उचित है कि वह राजाकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करे ।

और राजाको देवके समान माने और स्वप्नमें भी राजाका अविनय न करें। क्योंकि राजा धर्मकी मूर्ति कहलाता है और दीनबंधु कहलाता है ॥३४-३५॥

भावार्थ—जिस प्रकार अपने घरमें जो सबसे बड़ा होता है वह उस घरका स्वामी माना जाता है। वह स्वामी अपने सब बालबच्चों-के हितकी कामना करता रहता है। तथा घरवाले भी तब उसकी विनय करते हैं। उसकी आज्ञानुसार चलते हैं और उसको बड़ा मानते हैं। जो घर किसी एककी आज्ञानुसार नहीं चलता अथवा जिस घरके लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार चलते हैं वह घर शीघ्र छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार राजा किसी एक देशका स्वामी होता है। इसीलिए उस देशको समस्त आपत्तियोंसे बचाना तथा उस देशके रहनेवाले मनुष्य वा पशुओंका पुत्रके समान पालन करना राजाका धर्म हो जाता है। जो राजा अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता वह शीघ्रही उस देशका शत्रु बन जाता है और अपने बड़प्पनसे च्युत हो जाता है। यही समझकर राजाओं-को अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिए। राजाकी आज्ञा मानना, उसकी विनय करना और उसको बड़ा मानना प्रजाका कर्तव्य है। यदि राजा-प्रजा दोनोंमेंसे कोई भी अपने कर्तव्यका पालन छोड़ देता है तो वह देश शीघ्र ही छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है ॥३४-३५॥

Like the mother attached to her own son, may the king protect his subjects guided by considerations, of religeosity having soonest abondened the sense of unde-sirable distinctions and considering that these are my subjects [one and all as a whole]. Similarly the subjects too should carry out very obediently the dictates of the

ruler and should look upon him as a Divinity. They should never show disrespectful behaviour towards him even in a dream who is good religion incarnate and who is verily the prop of the poor. (34-35)

आगे फिर भी समस्त जीवोंके सुखी होनेकी भावना दिखलाते हैं–

अकालमृत्युर्नच कोऽपि रोगो,
भवेन्न केषामपि दुष्टबुद्धिः ।
दुष्टग्रहाणां न भवेत्प्रकोपो,
जीवन्तु जीवाः स्वसुखेन नित्यम् ॥३६॥

संस्कृतार्थः—मे एतादृशी भावना विद्यते यत् लोकेस्मिन् प्राणिनः अकालमृत्युर्न भवेत्, सर्वे आरोग्यमवसादयंतु । परपीडात्मिका दुष्टबुद्धिः, दुर्भिक्षादिसाधनात्मको दुष्टग्रहाणां प्रकोपश्च न स्यात्, सर्वे प्राणिनः सुखेन जीवंतु नंदंतु ॥३६॥

अर्थ—इस संसारमें किसीकी भी अकालमृत्यु न हो, कोई रोग न हो, किसीकी दुष्टबुद्धि न हो, दुष्ट ग्रहोंका कभी प्रकोप न हो और समस्त जीव सदा अपने आत्मजन्य सुखमें जीवन व्यतीत करें ॥३६॥

भावार्थ—इस संसारमें अकालमृत्यु महादुःखका कारण है, अनेक प्रकारके रोग महादुःख देनेवाले हैं, कभी-कभी जीवोंकी बुद्धि भी बिगड़ जाती है उसमें भी महादुःख होता है, तथा इनके सिवाय दुष्टग्रह आदि भी महा पीड़ा उत्पन्न करते रहते हैं। हे भगवन्! आपके प्रसादसे ये सब शांत हो जाँय । संसारी जीव अपने कल्याणमें लग जाँय और सब प्रकारसे सुखी होकर अपना जीवन व्यतीत करते रहें । ऐसी मैं भावना करता रहता हूँ ॥३६॥

May the beings live in personal happiness for all

time to come, may they not have malady of any kind whatever, May they not have wicked mentality and may there not be the anger of wicked and unfavourable stars. (36)

आगे अहिंसा धर्मकी भावना कहते हैं—

धर्मोऽस्त्यहिंसैव यथार्थबंधु-
र्मातापिता पालनपोषणत्वात् ।
वैद्यो वरो रोगविनाशकत्वाद्,
वंद्यो गुरुर्वा शिवदर्शकत्वात् ॥३७॥
स्वर्मोक्षदाता भवदुःखहर्ता,
षट्खण्डराज्यं धनरत्नपूर्णम् ।
दातुं समर्थोऽप्ययमेव धर्मः,
स एव तिष्ठेत्सकलेऽपि जीवे ॥३८॥

संस्कृतार्थः—अस्मिन् संसारे अहिंसाधर्म एवं जीवानां बंधुः, आत्मानंदरसेन पालनपोषणकारणत्वात् मातापिता च स एव, भवरोगहरसाधनत्वात् वैद्योपि स एव, मोक्षमार्गदर्शकत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च गुरुरपि स एव धर्मः, अतएव वंद्यः, किं पुनर्बहुनोक्तेन, धर्मेणाभ्युदयनिश्रेयसात्मकं सुखं प्राप्नोत्ययं जनः । षट्खंडात्मकं राज्यं सातिशयधनरत्नादियुतं दातुं समर्थोऽयं धर्मः । वस्तुस्वभावात्मकः सदा सत्वानां हृदि तिष्ठतु ॥३७-३८॥

अर्थ—इस संसारमें अहिंसारूपधर्म ही जीवोंका यथार्थ बंधु है, यह धर्म ही सब जीवोंका पालनपोषण करता है, इसलिए वही धर्म सबका माता-पिता है, इसके सिवाय यही धर्म समस्त रोगोंको दूर करनेवाला है। इसलिए यही धर्म उत्तम वैद्य है। तथा यही धर्म

मोक्षके मार्गको दिखलानेवाला है इसलिए यही धर्म वंदना करने योग्य गुरु है। यही धर्म स्वर्गमोक्षका देनेवाला है, संसारके समस्त दुःखोंका नाश करनेवाला है, और धन वा रत्नोंसे भरे हुए छहों खण्डके राज्यको देनेके लिए यही धर्म समर्थ है, ऐसा यह धर्म समस्त भव्योंके हृदयमें विराजमान हो। अर्थात् समस्त भव्यजीव इस पवित्र-धर्मको धारण करें ॥३७-३८॥

भावार्थ—इस संसारमें जितने धर्म कहलाते हैं उन सबमें एक अहिंसा धर्म ही मुख्य धर्म माना जाता है। इस अहिंसा धर्मके पालन करनेसे इस लोकमें भी सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं और परलोकमें भी सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं। संसारमें त्रस स्थावरके भेदसे अनेक प्रकारके जीव हैं उनमेंसे किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, अपने आत्माके समान सबको समझकर सबकी रक्षा करना अहिंसा धर्म है। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि समस्त पापोंका त्याग केवल एक अहिंसा धर्मके पालन करनेके लिए ही किया जाता है। झूठ, चोरी आदि पापोंके करनेमें हिंसा अवश्य होती है इसीलिए अहिंसा धर्ममें समस्त पापोंका त्याग आ जाता है। समस्त पापोंका त्याग हो जानेसे आत्मा शुद्ध हो जाता है और शुद्ध होनेसे वह समस्त दुःखोंसे छूट कर महा सुखी हो जाता है। इसीलिए आचार्य महाराज इस धर्मके लिए माता-पिता, भाई-बंधु, वैद्य, गुरु आदिकी उपमा देते हैं। इस अहिंसा धर्मके प्रसादसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके पद भी प्राप्त होते हैं और अंतमें मोक्ष भी प्राप्त होता है। यही समझकर भव्य जीवोंको इस अहिंसा धर्मका पालन अवश्य करते रहना चाहिए ॥३७-३८॥

The religion in the shape of nonviolence [Ahinsa] is veritably the genuene friend of all that alone is like their parents on account of its sustaining and protecting

qualities, that is the best doctor, because of its abilities to destroy the disease or it is a preceptor fit to be bowed down on account of its tendencies to lead one on to absolution. [37]

Let this religion be unbroked by all beings—religion which is the conqerer of heavens and absolution which is the relieverer of miseries of life and which is also the same religion as is potential enough to bestow the kingdom of Six divisions [the whole universe] full with wealth and Jewellery. [38]

आगे सत्य वचन बोलनेकी भावना करते हैं—

ब्रूयाद्वचः स्नेहकरं मिथस्त-
न्न भ्रान्तिदं क्लेशकरं वदेद्धि ।
शास्त्रानुकूलं च हितं हि सत्यं,
पथ्यं सदा द्वेषविनाशकं च ॥३९॥

संस्कृतार्थः—लोके परस्परं स्नेहसंवर्धनार्थं मिष्टभाषणं कर्तव्यम् तथा सत्यं ब्रूयात्, आर्षं हितकरं वचनं वक्तव्यम्, भ्रमोत्पादकं, प्राणिनां दुःखहेतुकं, द्वेषसंवर्धकं च वचनं कदापि न वक्तव्यम् येन च संसारेऽपि सुख-शांतिर्निवसति ॥ ३९ ॥

अर्थ—भव्य जीवोंका सदा परस्पर स्नेह उत्पन्न करनेवाले वचन बोलने चाहिए। शास्त्रानुकूल हित करनेवाले और सत्यवचन बोलने चाहिए तथा पथ्य वा आत्माका हित करनेवाले और द्वेषको नाश करनेवाले वचन बोलने चाहिए। भ्रांति और क्लेश उत्पन्न करनेवाले वचन कभी नहीं कहने चाहिए ॥ ३९ ॥

भावार्थ—इस संसारमें सत्यवचन सर्वोत्तम वचन कहलाते हैं तथा सत्य वचनोंसे विश्वासकी वृद्धि होती है। जो वचन समस्त जीवोंके हित करनेवाले होते हैं, पापोंको छुड़ानेवाले और आत्माको मोक्षमार्गमें लगानेवाले होते हैं, रागद्वेषको दूर करनेवाले होते हैं और शास्त्रानुकूल होते हैं, शास्त्रके विरुद्ध नहीं होते, ऐसे वचनको ही सत्य वचन कहने चाहिए। सत्यवचन कहनेसे परस्पर प्रेम बढ़ता है। सत्य वचनोंके कहनेसे किसीको क्लेश नहीं होता और न किसीको किसी प्रकारका भ्रम होता है। सत्य वचन अहिंसा धर्मको पालन करनेवाले हैं। इसीलिए जिन वचनोंके कहनेसे किसी जीवकी हिंसा होती हो ऐसे वचन असत्य वचन ही कहलाते हैं॥ ३९॥

One should utter language interse which is the propeller of affection which is not creator of dubiosity or quarrel someness. one should speak in consonance with the religious lore which is beneficial and truthful which is ever agreeable and one which is the destroyer of jealousness. (39)

आगे सुखशांतिकी भावना दिखलाते हैं—

तत्त्वस्य रूपस्य सदा विचारं,
कुर्यात्सुशान्तेः स्वसुखस्य चर्चाम्।
मोक्षो हि यावन्न भवेत्प्रयत्ना–
देवं सदा चिंतयतां हि भव्यः॥ ४०॥

संस्कृतार्थः—आत्मकल्याणमिच्छता भव्येन वस्तुनो याथात्म्यस्वरूपं सदा चिंतनीयम्, तथा परमानंदपरिपूरितसुखस्य शांतेश्च प्राप्त्युपायं विचार-

णीयम् । यावच्च स्वानंदसाम्राज्यरूपो मोक्षः न प्राप्नोति तावत् स्वहितैषिभिरेवं चिंतनीयम् ॥ ४० ॥

अर्थ—ये भव्यजीव जबतक प्रयत्नपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति न कर लें तबतक उनको सदा तत्वोंके यथार्थ स्वरूपका सदा विचार करते रहना चाहिए। इस प्रकार भव्य जीवोंको सदा चिंतवन करते रहना चाहिए ॥ ४० ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! अन्तमें मैं यही भावना करता हूँ कि जबतक मुझे मोक्षकी प्राप्ति न हो तबतक मैं अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करता हुआ उसीमें लीन बना रहूँ तथा उस शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले परम सुख और शांतिका अनुभव करता रहूँ ॥ ४० ॥

The persons worthy of absolution should ever ponder over the form of basic principles and until they reach absolution they should ever make discussions of the happiness and peace of the soul effortingly. (40)

इत्याचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर विरचितायां निजात्मशुद्धिभावनायां व्यवहारनयापेक्षया निजात्मशुद्धिभावना वर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरविरचित निजात्मशुद्धिभावना में व्यवहारनयकी अपेक्षासे निजात्मशुद्धिभावनाका वर्णन करनेवाला यह प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

●

दूसरा अधिकार

व्यवहारनयापेक्षया आत्मभावनां प्रदर्श्य निश्चयनयापेक्षयां आत्मसंदर्शनं कथं करणीयमिति प्रबोधयत्याचार्यः ।

आगे आत्माके शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षासे आत्माकी निर्विकार-भावनाको दिखलाते हैं—

क्रोधो न मानी कुटिलो न लोभी,
त्यागी न भोगी कृपणो न दानी ।
विद्वान्न मूर्खो न धनी दरिद्री,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४१॥

संस्कृतार्थः—सुगममेतत् ! क्रोधमानमायालोभेति चतुर्विध कषायाः आत्मनः कर्मपरवशतया संभवन्ति, तथा भोगदानादिदशाश्च कर्मकारणत्वेनैव लभंते । निश्चयनयेन अयमात्मा स्वभावे निमग्नत्वात् विकाराणामभावः सम्भवति ॥४१॥

अर्थ—मैं न क्रोधी हूँ, न मानी हूँ, न मायाचारी हूँ, न लोभी हूँ, न दानी हूँ, न विद्वान् हूँ, न मूर्ख हूँ, न धनी हूँ और न दरिद्री हूँ। किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, और अपने आत्मरसमें सदा तृप्त रहने-वाला हूँ ॥४१॥

भावार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार सब कर्मोंके उदयसे होते हैं, त्यागी होना, दानी होना, धनी होना, विद्वान् होना आदि लौकिक गुणकर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं। इसी प्रकार कर्मोंके उदयसे वा क्षयोपशमसे और भी अनेक गुणदोष उत्पन्न होते हैं परन्तु वे सब कर्मजन्य होनेके कारण आत्माके शुद्ध स्वरूपसे सर्वथा भिन्न माने जाते हैं। यद्यपि यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके वशीभूत हो रहा है, तथापि वह निश्चयनयसे शुद्ध स्वरूप ही कहलाता है। जिस प्रकार स्फटिक की प्रतिमाके पीछे यदि लाल रंगका फूल रख दिया

जाय तो वह प्रतिमा सामनेसे लाल दिखाई पड़ती है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो वह लाल नहीं है किन्तु सफेद ही है। इसी प्रकार आत्मामें जो क्रोधादिक विकार हैं वे सब कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार लाल फूलके हटते ही प्रतिमा सफेद दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार कर्मोंके हटते ही आत्मा अपने आप शुद्ध हो जाता है। शुद्ध आत्मा चिदानन्द स्वरूप होता है तथा अपने शुद्ध स्वरूपमें ही तृप्त होता है। अतएव हे भगवन्! मैं भी ऐसा ही शुद्ध स्वरूप होना चाहता हूँ और इसीलिए ऐसी ही भावना करता हूँ ॥४१॥

I am satisfied in the meditation of my own soul which is vitality (Chaitanya animation) incarnate being neither angry nor egotistic nor perverted nor a recluse, nor avaricious nor one attached to worldly enjoyments, nor hardfisted nor a donor nor a learned man nor a simpletion nor an oppulent being and nor a person stricken with penury. (41)

आगे निश्चयनयसे वर्ण वा लिंगका निषेध और उसकी भावना कहते हैं—

न ब्राह्मणः क्षत्रिय एव नाऽहं,
वैश्यो न शूद्रोऽप्यकुलः कुलीनः।
प्रजा न राजा न नरो न नारी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४२॥

संस्कृतार्थः—सुगमम्! ब्राह्मणक्षत्रियादयो वर्णकुलभेदाः, राजाप्रजेत्यादि शास्यशासकभेदाश्च निश्चयनयेन सकलकर्मविप्रमुक्तात्मनि न संभवन्ति ॥४२॥

अर्थ—भव्य जीवोंको चिन्तवन करना चाहिये कि मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न नीच कुलका हूँ, न ऊँचे कुल का हूँ, न प्रजा हूँ, न राजा हूँ, न स्त्री हूँ और न पुरुष हूँ। किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें सदा तृप्त रहता हूँ ॥४२॥

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों वर्ण अनादि-कालीन कर्तव्यसे माने जाते हैं। जिस वंशपरंपरामें अनादिकालसे रजोवीर्यकी शुद्धि चली आरही है तथा यजन-याजनका काम होता आ रहा है वह वंशपरंपरा ब्राह्मण वर्ण कहलाता है। जिस वंश-परंपरामें अनादिकालसे रजोवीर्यकी शुद्धि होते हुए रक्षाका कार्य होता आ रहा है उस वंशपरंपराको क्षत्रिय कहते हैं। जिस वंशपरं-परामें अनादिकालसे रजोवीर्यकी शुद्धि होते हुए व्यापार होता आरहा है उस वंशपरंपराको वैश्य कहते हैं तथा जिस वंशपरंपरामें रजो-वीर्यकी शुद्धि निश्चित रूपसे नहीं है और जिसमें सेवा कर्म चला आ रहा है उस वंशपरंपराको शूद्र कहते हैं। इस प्रकार ये चारों वर्ण गोत्रकर्म और कर्तव्यके निमित्तसे चले आरहे हैं। इसीलिये ये व्यव-हारसे वर्णन किये जाते हैं। निश्चयनयसे यह शुद्ध आत्मा इन सबसे भिन्न है। अतएव निश्चयनयसे मैं भी इन सबसे भिन्न हूँ। इसी प्रकार राजा, प्रजा वा स्त्री-पुरुष आदि अवस्था भी अपने-अपने कर्मके उदयसे प्राप्त होती है इसीलिये मेरा यह शुद्ध आत्मा इन सबसे भी भिन्न है। चिदानन्द स्वरूप है और अपने सुखमय स्वरूपमें लीन है। हे भगवन्! मैं ऐसी भावना रखता हुआ शुद्ध स्वरूप प्राप्त करूँ, ऐसी यह मेरी भावना सदाकाल बनी रहे ॥४२॥

I am satisfied in the meditation of my own soul which is vitality (Chaitanya animation) incarnate. I being neither a Brahmin nor a kshatriya nor a Vaishya nor a

Shudra, neither being kulin or nonkulin neither being the ruler nor the ruled and neither being a man or a woman. (42)

आगे फिर भी कुछ पर्यायोंका निषेध करते हुए शुद्ध स्वरूपकी भावना दिखलाते हैं—

देवो न देवी न गुरुर्न शिष्यो,
राज्ञी न दासी चतुरो न मूर्खः ।
द्वेषी न रागी न च हीनदीन-
श्चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४३॥

संस्कृतार्थः—सुगमम् ! नये नाहं निश्चयनयेन देवदेवीगुरुशिष्येत्यादि विकल्पेभ्यो विकल्पनीयः, तेषां छद्मस्थावस्थायामेव संभवः ॥४३॥

अर्थ—मैं न देव हूँ, न देवी हूँ, न गुरु हूँ, न शिष्य हूँ, न रानी हूँ, न दासी हूँ, न चतुर हूँ, न मूर्ख हूँ, न द्वेष करनेवाला हूँ और न दीन हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, और अपने आत्मजन्य रसमें तृप्त हूँ ॥४३॥

भावार्थ—देव, देवी, गुरु, शिष्य, रानी, दासी, चतुर, मूर्ख, रागी, द्वेषी, हीन, दीन आदि जितनी अवस्थाएँ हैं वे सब कर्मोंके निमित्तसे होती हैं। कोई अवस्था कर्मोंके उदयसे होती है और कोई अवस्था कर्मोंके क्षयोपशमसे होती है। परन्तु कर्मोंका निमित्त सब अवस्थाओंमें कारण है। शुद्ध निश्चयनयसे मेरा आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न वा रहित है। इसीलिए शुद्ध निश्चयनयसे मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ और अपने शुद्ध सुखमय आत्मामें लीन हूँ। हे भगवन् ! मैं ऐसी ही भावनामें लीन बना रहूँ ऐसी प्रार्थना करता हूँ ॥४३॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (Chaitanya-animation) in carnate I neither being a God or a Goddess neither the teacher nor the taught neither the queen nor the maid, neither the skilfull nor a Simpleton neither jealous nor passionate etc. and neither fallen nor poor. (43)

आगे फिर भी इसी भावनाको दिखलाते हैं—

रोगी निरोगी न च धीरवीरो,
बालो न वृद्धो न कुटुम्बवर्गी ।
छेदी न भेदी न सुखी न दुःखी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४४॥

संस्कृतार्थः—सुगममेतत् ! रोगीनिरोगीत्यादयः कर्मजन्याः, सुखीत्यत्र संसारजन्यसुखं विज्ञेयं । तस्यानित्यत्वात् । चैतन्यमूर्तेरात्मन उपर्युक्तविकार-भावाः न संभवन्ति ॥४४॥

अर्थ—मैं न रोगी हूँ, न निरोगी हूँ, न धीरवीर हूँ, न बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, न कुटुम्बको धारण करनेवाला हूँ, न छेदन करनेवाला हूँ, न भेदन करनेवाला हूँ, न सुखी हूँ और न दुःखी हूँ। किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें तृप्त हूँ ॥४४॥

भावार्थ—रोगी होना, निरोग होना, धीर-वीर होना, बालक होना, वृद्ध होना, कुटुम्बकी वृद्धि होना, सुखी होना, दुःखी होना, आदि सब शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं। शरीर कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है। कर्म पौद्गलिक है। और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। इस-लिए शुद्धनिश्चयनयसे शुद्ध अवस्थाको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा इन रोगादिकसे भी सर्वथा भिन्न है। यद्यपि संसारी आत्माको

रोगादिकसे दुःख होता है। परन्तु वह आत्मज्ञान न होनेसे होता है। संसारी जीव शरीरको ही अपना मान लेते हैं और इसीलिए वे रोगादिक होनेपर दुःखी होते हैं। आत्मज्ञानी जीव आत्माको शरीरसे भिन्न मानता है इसलिए वह आत्माको रोगादिकसे भी भिन्न मानता है। ऐसा वह शुद्धचिदानन्द स्वरूप आत्मा अपने आत्मजन्य सुखमें लीन रहता है ॥४४॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (Chaitanya animation) incarnate I am neither full of diseases nor one devoid of it neither am I patient minded nor brave neither a child nor an adult nor a person with family members I am neither a person to create separations nor differences and neither am I happy nor misearable. (44)

आगे बन्धादिकके निषेधको भावना कहते—

बंधो न मोक्षा न विधिर्निषेधः,
कर्ता ह्यकर्ताप्यथवा न भोक्ता ।
स्वामी न भृत्यश्च कदापि नाऽहं,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४५॥

संस्कृतार्थः—एतच्च सुगमम् ! बंधादयोऽपि संसाराभिवृद्धि कारणान्येव, ततोऽहं तैरपरामृष्टः शुद्धात्मोत्थसुखानुभवरसे तृप्तोऽस्मीति भावः ॥४५॥

अर्थ—मैं न बंधरूप हूँ, न मोक्षरूप हूँ, न विधिरूप हूँ, न निषेधरूप हूँ, न कर्ता हूँ, न अकर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, न अभोक्ता हूँ, न स्वामी हूँ और न कभी दास हूँ किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए रसमें ही तृप्त हूँ ॥४५॥

भावार्थ—जब यह मेरा आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है तब भला उसके साथ कर्मोंका बंध कैसे हो सकता है। कर्मोंका बंध तो कर्माश्रित अशुद्ध आत्मा के होता है। यदि शुद्ध आत्माके बंध मान लिया जाय तो सिद्धोंके भी बंध होना चाहिए, सो होता नहीं है। इसलिए मेरा यह शुद्ध आत्मा बंधसे सर्वथा रहित है। समस्त कर्मोंके नाश होनेको मोक्ष कहते हैं। जब यह मेरा शुद्ध आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है तब उसके कर्मोंके नाशकी संभावना कैसे हो सकती है। यदि शुद्ध आत्माको भी मोक्ष मानी जायगी तो सिद्धोंको भी फिरसे मोक्ष होनी चाहिए। सो होता नहीं है। इसलिये मेरा यह शुद्ध आत्मा मोक्षसे भी सर्वथा रहित है। इसी प्रकार विधि, निषेध, कर्ता, अकर्ता, भोक्ता, स्वामी, दास आदि कल्पना क्रियायुक्त पदार्थमें होती है। जिसमें क्रिया होती है वही कर्ता हो सकता है वा उसीके लिये कर्तृत्वका निषेध किया जा सकता है। क्रियायुक्त पदार्थ ही भोग कर सकता है, क्रियायुक्त पदार्थ ही स्वामी वा दास हो सकता है और क्रियायुक्त पदार्थके लिये ही किसी भी कार्यका विधि निषेध किया सकता है। परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध अवस्थाको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा समस्त बाह्य क्रियाओंसे रहित है। इसलिये वह इन सबसे भिन्न है तथा अपने चिदानंद स्वरूप शुद्ध आत्मामें लीन है ॥४५॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (Chaitanya-animation) in carnate I have neither bondages nor reliefs nor have I any restrictions of formalities I am neither a doer nor a non-doer nor am I an enjoyer and neither am I a master nor am I a servant at any time. (45)

आगे शुद्ध आत्मामें अन्य तत्त्वोंके निषेधकी भावना दिखलाते हैं—

कृष्णो न शुक्लो न च वर्णवर्णी ।
धर्मोऽप्यधर्मो न नभो न कालः ॥
जीवोऽप्यजीवो न च पुद्गलोऽपि ।
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४६॥

संस्कृतार्थः—कृष्णशुक्लादयो वर्णविकाराः, नभकालपुद्गलाद-योऽजीवद्रव्याः, चैतन्यस्वरूपस्यात्मनः सर्वथा तत्संबंधो नास्तीति भावः शेषं सुगमं ॥४६॥

अर्थ—मैं न कृष्णवर्ण हूँ, न शुक्लवर्ण हूँ, न अन्य वर्णको धारण करनेवाला पुद्गल हूँ, न धर्मद्रव्य हूँ, न अधर्म द्रव्य हूँ, न आकाश द्रव्य हूँ, न कालद्रव्य हूँ, न जीव हूँ, न अजीव हूँ और न पुद्गल हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें ही सदा तृप्त हूँ ॥४६॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये सब अजीव द्रव्य हैं तथा चैतन्यस्वरूप आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। जो आयु श्वासोक्छ्वास आदिके द्वारा जीवित रहता है उसको जीव कहते हैं। ऐसा संसारी अशुद्धजीव भी निश्चयनयसे शुद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले मेरे शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार कृष्ण, शुक्ल आदि अनेक वर्णोंको धारण करनेवाले पुद्गलसे भी मेरा वह शुद्ध आत्मा सर्वथा भिन्न है। ऐसा यह मेरा शुद्ध आत्मा चिदानंद-स्वरूप अपनी शुद्ध अवस्थामें ही सदा लीन रहता है ॥४६॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (Chaitanya-animation) in carnate I am neither black nor am I white nor do I assume variegated colours neither am I religion nor am I want of it neither am I sky nor am I time, neither am I life nor am I absence of it and also I am not even a Pudgal (Substance). (46)

आगे योगादिकके निषेधकी भावना कहते हैं—

शुद्धोऽप्यशुद्धो न च योगयोगी,
बुद्धोऽप्यबुद्धो न भवो न भावी।
सिद्धोऽप्यसिद्धो न करो न कारी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४७॥

संस्कृतार्थः—एतच्च सरलम्। शुद्धाशुद्धादयो वैभाविकपरिणामाः। परमचैतन्यमूर्तिरात्मा तैस्शुद्धादिपरिणामैरस्पृश्य इति परिशुद्धात्मनि तेषामभावः ॥४७॥

अर्थ—मैं न शुद्ध हूँ, न अशुद्ध हूँ, न योगको धारण करनेवाला योगी हूँ, न बुद्ध वा ज्ञानी हूँ, न अबुद्ध अज्ञानी हूँ, न संसारी हूँ, न क्षयोपशमादिक भावोंको धारण करनेवाला हूँ, न सिद्ध हूँ, न असिद्ध हूँ, न करनेवाला हूँ, और न करानेवाला हूँ। किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, और अपने आत्मरसमें तृप्त हूँ ॥४७॥

भावार्थ—आत्माकी अशुद्ध, अबुद्ध अवस्थायें वा अन्य सांसारिक अवस्थायें कर्मविशिष्ट आत्मामें होती हैं। जो कर्मसहित आत्मा है वही योग धारण कर सकता है, वही कर्ता वा कारयिता कहला सकता है, और वही संसारी वा भव्य कहला सकता है। निश्चयनयसे मेरा आत्मा समस्तकर्मोंसे रहित अत्यंत शुद्ध है, इसलिए वह इन सब विकारोंसे भिन्न है तथा सदाकाल चिदानंद परम सुख में लीन रहता है ॥४७॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (Chaitanya animation) incarnate I am neither pure nor impure, neither am I an ascetic nor a non-ascetic, neither am I intellegent nor am I a dullard

neither am I born nor to be born I am neither a person of perfection nor devoid of it. I am neither a doer nor one who gets it done. (47)

आगे सूक्ष्म स्थूल वा सांसारिक सम्बन्धके निषेधकी भावना कहते हैं—

स्थूलो न सूक्ष्मो परमो न चाऽल्पो,
व्याधिर्न चाधिर्न सखा न शत्रुः ।
पिता न माता भगिनो न भार्या ।
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४८॥

संस्कृतार्थः—सदेहस्य संसारिणः स्थूलसूक्ष्माल्पमहदित्यादयो, माता-पिता-भार्या-भगिनोमित्रशत्रुवश्च संबंधिनः । संसारातीतस्य परिशुद्धात्मनस्तेषां संबंधस्यैवाभावः । अवशिष्टं सुगमम् ॥४८॥

अर्थ—मैं न स्थूल हूँ, न सूक्ष्म हूँ, न बड़ा हूँ, न छोटा हूँ, न बाह्यव्याधिरूप हूँ, न अंतरंग आधिरूप हूँ, मैं न मित्र हूँ, न शत्रु हूँ, न पिता हूँ, न माता हूँ, न बहिन हूँ और न स्त्री हूँ, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें तृप्त हूँ ॥४८॥

भावार्थ—स्थूल सूक्ष्म पुद्गलकी पर्याय है, छोड़ा बड़ा भी पुद्गलमें ही होता है, पुद्गलको छोड़कर सूक्ष्मस्थूलपना वा छोटा-बड़ापन अन्य किसी पदार्थमें नहीं रहता । मनुष्योंमें जो स्थूल सूक्ष्मपना वा छोटा बड़ापन होता है वह शरीरकी अपेक्षासे होता है, आत्माकी अपेक्षासे नहीं होता । इसी प्रकार माता-पिता स्त्री-पुत्र पुत्री-बहिन आदि संबंध शरीरकी अपेक्षासे होते हैं । आत्मा तो स्वयं मरकर अपना ही पुत्र हो सकता है । इसलिए ये सब शारीरिक वा पौद्गलिक संबंध हैं और इसीलिए आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं । आधि-व्याधि सब शरीरके साथ ही रहती हैं । आत्मा तो अमूर्त होनेके कारण आधि-व्याधि आदि सबसे भिन्न है । इसी प्रकार शत्रुता और

मित्रता भी शरीरके ही साथ है, आत्माके साथ नहीं है। यदि शत्रुता-मित्रता आत्माके साथ होती वा माता-पिता आदि सम्बन्ध आत्माके साथ होते तो सिद्धोंके साथ भी शत्रुता-मित्रता होनी चाहिए। और माता-पिता आदि सम्बन्ध होने चाहिए। परन्तु सिद्ध सदा निर्लेप रहते हैं। अतएव निश्चयनयसे सिद्धोंके समान शुद्ध अवस्था को धारण करनेवाला मेरा यह आत्मा भी इन ऊपर लिखे हुए समस्त पौद्गलिक विकारोंसे रहित है तथा वह सिद्धोंके समान ही चिदानन्द स्वरूप परम सुख में निमग्न रहता है ॥ ४८ ॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality [Chaitanya animation] incarnate I am neither corpulent nor am I insignificant (inscrutable-unperceptible) neither have I big magnitude nor am I one of small magnitude neither am I an external disease nor am I an internal malady (Adhi) neither am I a friend nor an enemy and neither a father nor a mother nor a sister nor a wife. (48)

आगे सामर्थ्यादिक अन्य विकारोंके निषेधकी भावना दिखलाते हैं—

शक्तोऽप्यशक्तो न कृती न कार्यं,
व्यक्तो न गुप्तो न गतिः स्थितिश्च ।
भीरुर्न कारुर्न मतिर्न मौनी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४९॥

संस्कृतार्थः—सुगमम् ! व्यवहारनिश्चयनयाननुसृत्यैतत् कथनमिति विज्ञेयं । तावनुसृत्य विधिनिषेधकथनमनुनेयं । भीरुत्वादयो परिणामविकाराः चिदात्मनि न संभवंति ॥४९॥

अर्थ—मैं न समर्थ हूँ, न असमर्थ हूँ, न कृती हूँ, न कार्य हूँ, न व्यक्त वा प्रगटरूप हूँ, न गुप्त वा छिपा हुआ हूँ, न गमनरूप हूँ, न स्थिर हूँ, न भीरु वा डरपोक हूँ, न कारू वा शूद्ररूप हूँ, न मौनी हूँ, और न मतिरूप वा जाग्रतरूप हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, और अपने आत्मजन्य रसमें तृप्त हूँ ॥ ४९ ॥

भावार्थ—यदि यह जीव समर्थ होता तो यह अबतक मोक्ष प्राप्त कर लेता। इससे सिद्ध होता है वह समर्थ नहीं है। तथा कुछ न कुछ उद्यम करता ही रहता है। इसलिए इसको असमर्थ भी नहीं कह सकते। यदि यह आत्मा कृती होता तो भी अबतक सिद्ध अवस्थाको धारण कर लेता, परन्तु अबतक सिद्ध अवस्था धारण नहीं की है, इससे सिद्ध होता है कि वह कृती भी नहीं है। आत्मा-का अन्तिम कार्य मोक्ष प्राप्त करना है। परन्तु वह मोक्ष अबतक प्राप्त नहीं हुई है। इससे जान पड़ता है यह मेरा आत्मा कार्यरूप भी नहीं है। इसी प्रकार यह आत्मा अमूर्त होनेके कारण नेत्रोंके द्वारा दिखाई नहीं पड़ता इसलिए उसको व्यक्त नहीं कह सकते तथा अनुभवके द्वारा ज्ञानगोचर होता है अथवा सर्वज्ञदेव इसको देख भी सकते हैं और जान भी सकते हैं, इसलिए उसको गुप्त भी नहीं कह सकते। यह आत्मा न तो मनुष्यलोकके सूर्यके समान गमन करता है और न मेरु पर्वतके समान सदा स्थिर रहता है इसलिए वह न तो गमन रूप है और न स्थिर है। शुद्ध निश्चयनयसे यह आत्मा निर्भय है, इसलिए इसको भीरु वा डरपोक नहीं कह सकते। शूद्रादिक अवस्था कर्मोंके उदयसे होता है परन्तु निश्चयनयसे यह मेरा आत्मा कर्मोंसे रहित है इसलिए वह शूद्रादिक अवस्थासे भी भिन्न है। जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ उदयसे होती हैं, इसलिए यह मेरा आत्मा इनसे भी भिन्न हैं तथा मौन अवस्था वचन वर्गणाओं के रहनेपर होती हैं। वचनवर्गणाएँ पौद्गलिक हैं। इसलिए उनके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध न होनेके कारण यह मेरा आत्मा उनसे भो सर्वथा भिन्न

है। इस प्रकार इन सबसे भिन्न रहनेवाला मेरा आत्मा चिदानन्दमय परम सुखमें सदा लीन रहता है ॥ ४९ ॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is [Chaitanya animation] vitality incarnate I am neither potential nor disabled neither am I one who has achieved the goal nor am I the thing to be achieved neither am I apparant nor am I incognito neither am I comotion nor am I statusquo neither am I timid nor mean and neither am I intellect nor am I observer of speechlessness. (49)

आगे रसादिकके निषेधकी भावना कहते हैं—

रसो न राशिः पुरुषो न षंडो,
मूर्तिर्ह्यमूर्तिर्न दमी क्षमी न।
गृही न साधुर्न दिनं न रात्रि-
श्चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५०॥

संस्कृतार्थः—रसराशिपुरुषषण्डादयो पुद्गलविकाराः कर्मजन्याश्च दमीक्षमीगृहीसाधवश्च सशरीरात्मनो धर्माः। नैजस्वरूपप्राप्तस्य आत्मनस्तेषां सर्वथाभावः। शेषं पूर्ववत् ज्ञेयं ॥५०॥

अर्थ—मैं न रसरूप हूँ, न राशिरूप हूँ, न पुरुष हूँ, न नपुंसक हूँ, न मूर्त हूँ, न अमूर्त हूँ, न इंद्रियोंको दमन करनेवाला हूँ, न क्षमा धारण करनेवाला हूँ, न गृहस्थ हूँ, न साधु हूँ, न दिनरूप वा प्रकाशरूप हूँ, और न रात्रिरूप वा अंधकारमय हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, और अपने आत्मरसमें तृप्त हूँ ॥५०॥

भावार्थ—रस पुद्गलका गुण है तथा राशि वा ढेर गेहूँ जो तृण आदि पुद्गलोंकी ही होती है। इसलिए मेरा यह शुद्ध आत्मा इन दोनोंसे सर्वथा भिन्न है। पुल्लिग वा नपुंसकलिंग दोनों ही कर्मोंके

उदयसे होते हैं। तथा कर्मविशिष्ट आत्माके ही होते हैं अथवा पौद्गलिक शरीरमें होते हैं। मेरा शुद्ध आत्मा इन दोनोंसे भिन्न है इसलिए वह सब प्रकारके लिंगोंसे रहित अलिंग है। मूर्त अवस्था पुद्गलमें होती है। मेरा शुद्ध आत्मा पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है इसलिए वह मूर्त भी नहीं कहला सकता। यह मेरा शुद्ध आत्मा चिन्मूर्त वा चैतन्य स्वरूप कहलाता है। इसलिये इसको अमूर्त भी नहीं कह सकते। यह मेरा शुद्ध आत्मा इंद्रियोंको कारण नहीं करता इसलिए इन्द्रियोंको दमन करनेवाला भी नहीं कहला सकता। क्रोध धारण नहीं करता इसलिये क्षमा करनेका काम भी नहीं पड़ता। किसी प्रकारके परिग्रहको धारण नहीं करता इसलिए वह गृहस्थ भी नहीं कहलाता, मूलगुणोंको पालन नहीं करता इसलिये उसे साधु भी नहीं कह सकते तथा वही मेरा शुद्ध आत्मा न तो सूर्यसे कोई संबंध रखता है और न चंद्रमासे कोई संबंध रखता है। इसलिये उसको न दिन वा प्रकाशरूप कह सकते हैं और न रात्रि वा अंधकारमय कह सकते हैं। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनयसे इन सबसे भिन्न रहनेवाला मेरा शुद्ध आत्मा चिदानंद स्वरूप परम सुखमें सदा निमग्न रहता है ॥५०॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (chaitanya animation) incarnate I am neither Ras (Sentiment) nor am I a multitude neither masculine nor neuter. I am neither Shapeless nor one having a form. I am neither one practising Penance [Dami] nor am I one practising forbearance neither am I a householder nor a recluse and neither am I day nor am I a night. (50)

आगे मूढादिकके निषेधकी भावना बतलाते हैं—

मूढो न गूढो न कविः कपिर्न,
मोही न मुग्धो न बली कलिर्न।

ईतिर्न भीतिर्न कृतिर्धृतिश्च,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५१॥

संस्कृतार्थः—मूढगूढकविकपिमोहिमुग्धबलिकलीतिभीतिकृतिधृत्यादयः संसारयुक्तस्यात्मनः संभवात्, संसारातीतस्य शुद्धात्मनस्तेषामभावः सिद्ध एव। शेषं पूर्ववत् सुगमम् ॥५१॥

अर्थ—मैं न मूर्ख हूँ, न गूढ़ हूँ, न कवि हूँ, न कपि वा बंदर हूँ, न मोह करनेवाला हूँ, न मुग्ध वा अज्ञानी हूँ, न बलवान् हूँ, न कलियुगरूप वा मायाचारी हूँ, न इति वा दुःखरूप हूँ, न भयरूप हूँ, न कृति वा कार्यरूप हूँ, और न धृति वा धैर्यरूप हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, और अपने आत्मरसमें तृप्त हूँ ॥५१॥

भावार्थ—मूढ़ता मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होती है, गूढ़पना नामकर्मके उदयसे होता है, कवित्वशक्ति ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होती है, बंदरकी पर्याय तिर्यग् आयुकर्मके उदयसे प्राप्त होती है, मोहको धारण करना, मायाचारी करना, भयभीत होना, आदि मोहनीय कर्मका कार्य है। अज्ञानी होना ज्ञानावरण कर्मका कार्य है, बलवान् होना वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होता है, दुःखी होना वेदनीयका कार्य है, धैर्य नोकषायके क्षयोपशमसे प्राप्त होता है। इस प्रकार ये जितने विकार हैं वे सब शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं। तथा मेरा आत्मा निश्चयनयसे अत्यंत शुद्ध है। इसलिये वह इन सब विकारोंसे सर्वथा भिन्न है और चिदानंद स्वरूप परमसुखमें लीन है ॥५१॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (chaitanya animation) incarnate I am neither a Simpleton nor am I the inscrutable neither am I a philosopher nor am I a monkey, neither am I infatuation nor am I a fond [wanting in adequate intellect] person neither am a mighty nor am I deceptive and neither am I

apprehensiveness and neither activity nor patience. (51)

आगे शस्त्री शास्त्री आदिके निषेधकी भावनाको दिखलाते हैं—

शस्त्री न शास्त्री न शशी न सूर्यः,
प्रीतिर्न कीर्तिर्न पुरी न पौरः ।
भग्नो न नग्नो न चलोऽचलोपि,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५२॥

संस्कृतार्थः—शस्त्रीशास्त्रीशशिसूर्यपौरादय संसारिणः, अवशिष्टास्तेषां परिणामविशेषाः, चैतन्यमूर्तावात्मनि तत्संबंधाभावः। शेषं पूर्ववत् ॥५२॥

अर्थ—मैं न शस्त्रोंको धारण करनेवाला हूँ, न शास्त्रोंका जानकार शास्त्री हूँ। मैं न चंद्रमा हूँ, न सूर्य हूँ, न प्रेमरूप हूँ, न कीर्तिरूप हूँ, न नगररूप हूँ, न नगरनिवासी हूँ, मैं न भग्न हूँ, न नग्न हूँ, न चल हूँ, न अचल हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें तृप्त हूँ ॥५२॥

भावार्थ—जो शस्त्रोंको धारण करता है उसको शस्त्री कहते हैं। जो अनेक शास्त्रोंका पठन-पाठन करता है उसको शास्त्री कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रोंके निमित्तसे शास्त्री और शस्त्रोंके निमित्तसे शस्त्री कहलाता है, परन्तु निश्चयनयसे शुद्ध अवस्थाको धारण करनेवाला मेरा आत्मा इन दोनोंसे भिन्न है। सूर्य चंद्रमाके विमान पौद्गलिक हैं तथा सूर्य चंद्रमा देव देवायुकर्मके उदयसे होते हैं, परन्तु मेरा यह शुद्ध आत्मा न विमानरूप हैं और न देवरूप है। इसलिये वह दोनोंसे सर्वथा भिन्न है। प्रीति मोहनीय कर्मके उदयसे होती है, कीर्ति यशःकीर्ति नामकर्मके उदयसे होती है, चलपना और अचलपना स्थिर-अस्थिर नामकर्मके उदयसे होता है। परन्तु मेरा यह शुद्ध आत्मा इन सबसे रहित है। इसलिये वह इन सबसे भिन्न

है। इसी प्रकार नगरके निमित्तसे पुरवासी और पुरवासियोंके निमित्तसे पुर वा नगर कहलाता है। इसलिए मेरा यह शुद्ध आत्मा इन दोनोंसे भी भिन्न है। भग्न अवस्था किसी भी पुद्गलमें होती है। आत्मा अखंड पदार्थ है इसलिये वह भग्न अवस्थासे सर्वथा भिन्न है। तथा नग्न अवस्था शरीरकी कहलाती है। चाहे वह दरिद्रतासे हो अथवा समस्त परिग्रहोंके त्याग करनेसे हो परन्तु होती है शरीरमें। परन्तु मेरा यह शुद्ध आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार निश्चयनयसे परम शुद्ध अवस्थाको धारण करनेवाला मेरा यह आत्मा ऊपर लिखे सब विकारोंसे रहित है और चिदानंद परमसुखमें संतुष्ट वा लीन है ॥५२॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality [chaitanya animation] incarnate I am neither a being with arms nor am I a person with shastree lore. I am neither the moon nor the sun, I am neither affection nor repute I am neither the city nor a citizen. I am neither attached nor am I naked and neither movable nor immovable. [52]

आगे ब्रह्मादिकके निषेधकी भावना कहते हैं—

ब्रह्मा न विष्णुर्न महेश्वरोऽपि,
न वर्द्धमानो न हि बुद्धदेवः ।
नैवाऽस्मि संकल्पविकल्परूप-
श्चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५३॥

संस्कृतार्थः—ब्रह्माविष्णुमहेश्वर–जिनबुद्धादयः सशरीराः सकर्माश्च। संकल्पविकल्पौ च संसारिण एव संभवात् संसारमुक्तस्यात्मनस्तेषां संभवाभावः। शेष सुगमं ॥ ५३ ॥

अर्थ—मैं न ब्रह्मा हूँ, न विष्णु हूँ, न महादेव हूँ, न वर्द्धमान हूँ, न बुद्ध हूँ, और न संकल्पविकल्परूप हूँ, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें ही सदा तृप्त रहनेवाला हूँ॥ ५३॥

भावार्थ—जो लोग अपनी बुद्धिसे इस जगत्का सृष्टिकर्ता मानते हैं वे ब्रह्माको जगत्का कर्ता मानते हैं। किन्तु यह अर्थ नहीं है। सारांश यह है कि धर्मच्युत जीवोंको पुनः धर्ममें लगानेवाला होनेसे ईश्वर सृष्टिकर्ता माना जाता है। नवीन वस्तुका उत्पन्न कर्ता नहीं। विष्णुको जगत्का पालन करनेवाला मानते हैं और महादेवको जगत् का नाश करनेवाला मानते हैं। परन्तु मेरा यह शुद्ध आत्मा न तो जगत्का कर्ता है, न जगत्का पालन करनेवाला है, और न जगत्का नाश करनेवाला है। इसलिए यह मेरा आत्मा इन तीनोंसे सर्वथा भिन्न है। भगवान् वर्द्धमान स्वामी अपने तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे समवशरणकी परमविभूतिसे सुशोभित थे परन्तु मेरा यह अत्यन्त शुद्ध आत्मा कर्मकी समस्त प्रकृतियोंके उदयसे रहित है, तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे भी रहित है। इसलिए वह भगवान् वर्द्धमानसे भी भिन्न है। बुद्ध समस्त पदार्थोंको क्षणिक मानता है तथा सर्वथा क्षणिक मानता है परन्तु मेरा यह शुद्ध आत्मा समस्त पदार्थोंको अनेक धर्मात्मक मानता है। मेरा यह शुद्ध आत्मा समस्त पदार्थोंको कथंचित् नित्य मानता है, कथंचित् अनित्य मानता है, कथंचित् उभयस्वरूप मानता है। कथंचित अस्तिस्वरूप, कथंचित् नास्ति और कथंचित् उभयस्वरूप मानता है, कथंचित् भावस्वरूप, कथंचित् अभावस्वरूप और कथंचित् उभयस्वरूप मानता है। इस प्रकार मेरा यह आत्मा बुद्धदेवसे सर्वथा भिन्न है। इसके सिवाय मेरा यह शुद्ध आत्मा संसारके समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित है, सर्वथा निर्विकल्पस्वरूप है और इसीलिए वह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप परम सुखमें सदाकाल निमग्न रहता है॥ ५३॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality [chaitanya animation] incarnate, I am neither the creator [Brahma] nor am I Vishnu nor am I the Highest God (Shiva) neither am I Vardhaman nor Buddh and neither I am waverings of mind. (53)

आगे भक्ति कुल गोत्र आदिके निषेधकी भावना दिखलाते हैं—

भक्तिर्न भक्तो ह्यरती रतिर्न,
भूमिर्न भूतिर्न कुलं न गोत्रम् ।
श्रुतिर्न वृत्तिः प्रकृतिः प्रजा न,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५४॥

संस्कृतार्थः—भक्तिभक्ताद्युपास्योपासकभावाः कुलगोत्रादयश्च शुद्धचिद्रूपात्मनि न सम्भवंति । स चात्मा चिदानन्दरसे तृप्त इति भावः ॥ ५४ ॥

अर्थ—मैं न भक्तिरूप हूँ, न भक्त हूँ, न अरतिरूप हूँ, न रतिरूप हूँ, न भूमिरूप हूँ, न विभूतिरूप हूँ, न कुलरूप हूँ, न गोत्ररूप हूँ, न शास्त्ररूप हूँ, न वृत्तिरूप हूँ, न प्रकृतिरूप हूँ, और न प्रजारूप हूँ। मैं तो चैतन्य मात्रमूर्ति हूँ और अपने आत्मरसमें सदा तृप्त रहने वाला हूँ ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जहाँपर पूज्यपूजक भाव होता है वहींपर भक्ति करने वाला भक्त वा पूजक माना जाता है और वह पूज्य पुरुषकी भक्ति करता है। परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे अत्यन्त शुद्ध अवस्थाको धारण करनेवाला यह मेरा आत्मा न पूज्य है और न पूजक है इसलिए यह दोनोंसे सर्वथा भिन्न है। रति-अरति मोहनीय कर्मके उदयसे होती है। कुल नाम कर्मके उदयसे होता है। गोत्र गोत्र कर्मके उदयसे होता है। प्रकृति जगत्का स्वभाव है। वृत्ति जीविकाको कहते

हैं, भूमि और विभूति दोनों ही अचेतन हैं। श्रुति शास्त्र वा शास्त्र-ज्ञानको कहते हैं। ये सब पदार्थ मेरे शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं तथा मेरा आत्मा अत्यन्त शुद्ध चिदानन्द स्वरूप और परम-सुखमें लीन है ॥ ५४ ॥

I am satisfied in the meditation of my soul which is vitality (Chaitanya animation) incarnate, I am neither devotion nor a devotee neither am I one having attachment nor am I its destitution, I am neither earth nor prosperity, neither am I family hood nor am I Gotra neither am I Shruti [Sacred literature] nor am I mental inclination nor am I nature and nor am I subjects.

(54)

आगे ध्याता और ध्येय आदिके निषेधकी भावना दिखलाते हैं—

ध्याता न ध्येयं न चिता न चिंता,
नादिर्न मध्यं खलु नैव चान्तः ।
सदा ममात्मा परमार्थदृष्टया,
सुचिन्तयेदेवमतिप्रयत्नात् ॥ ५५ ॥

संस्कृतार्थः—निर्विकल्पकावस्थायां ध्याता, ध्येयं, ध्यानं इति सविकल्पकपरिणतिर्न संभवति। अयमात्मा आदिमध्यांत विरहितः, चिंता चितायाश्च सम्बन्धः शरीरस्य भवति, नास्यात्मनः इति सदा विचारयन् यत्नपूर्वकं आत्मना आत्मानं ज्ञानचक्षुषा द्रष्टव्यं आत्महितैषिणा ॥५५॥

अर्थ—मैं न ध्यान करनेवाला हूँ, न ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ हूँ, मैं न चितारूप हूँ, न चिंतामय हूँ, मैं न आदिरूप हूँ, न मध्य हूँ, न अन्तरूप हूँ। इस प्रकार मेरा यह आत्मा परमार्थदृष्टिसे प्रयत्नपूर्वक सदा चिंतवन करें यही मेरी भावना है ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जिसका ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं। जो ध्यान करता है उसको ध्याता वा ध्यान करनेवाला कहते हैं और ध्यान करना वा चिंतवन करना ध्यान कहलाता है। निश्चयनय से मेरा आत्मा अत्यन्त शुद्ध है। इसलिए वह न तो ध्याता है न ध्यानरूप है और न ध्येयरूप है। वह तीनोंसे भिन्न है। इसी प्रकार यह मेरा आत्मा अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तानन्त कालतक बना रहेगा। इसलिए वह आदि, मध्य, अन्त तीनोंसे रहित है। हे भगवन्! परमार्थदृष्टिसे मेरा यह आत्मा सदाकाल इसी प्रकार चिंतवन करता रहे। ऐसी मैं सदाकाल भावना करता हूँ ॥ ५६ ॥

May my soul ever meditate this way for all time to come with much effort and with the ultimate aim of philosophic vision that I am neither the thinker nor am I the thing to be thought neither am I the funeral pyre nor am I the anxiety neither I am the Alfa nor the Omega as also I am neither its middle. (55)

आगे इस स्वानुभूतिके बिना आत्माकी क्या अवस्था होती है यही दिखलाते हैं—

स्वात्मानुभूत्या सुखशांतिदात्र्या,
विना भवाब्धौ विषमे च दुःखे।
व्यत्यायि कालोऽमित एव जीवै,
श्रीकुन्थुनाम्ना मुनिना तथा हि॥ ५६॥

संस्कृतार्थः—आत्मभावनां उपसंहारयन्नाचार्यः प्राहः—अनन्तसुख-शांतिप्रदायकस्य स्वात्मानुभवस्याभावात् दुःखप्रदे भयंकरे संसारसमुद्रेऽयं जीवः इतस्ततः चिरभटति, मयापि तेन विना संसारयात्रा कृता इति दुःखकरे वर्तते ॥ ५६ ॥

अर्थ—इन संसारी जीवोंने सुख और शांतिको देनेवाली इस स्वात्मानुभूतिके बिना विषम और दुःखमय इस संसाररूपी समुद्रमें अनंतकाल व्यतीत किया है और इसी प्रकार इस ग्रन्थके कर्ता श्री कुन्थुसागर मुनि कहते हैं कि मैंने भी इसी प्रकार स्वानुभूतिके बिना इस संसारमें अनन्तकाल व्यतीत किया है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—काललब्धिके निमित्तसे जिस समय दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका तथा अनंतानुबंधीकी चारों प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है, उस समय सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है। सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है और वह आत्माके शुद्ध स्वरूपको दिखलानेवाला एक प्रकाशरूप है। जिस प्रकार हम लोग प्रकाशके होनेपर पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप देखते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी आत्मप्रकाशके प्रगट होनेपर आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है और तदनन्तर वह आत्मा उस अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका अनुभव करने लगता है। इसीको स्वानुभूति या स्वानुभव कहते हैं। स्व शब्दका अर्थ आत्मा है और अनुभव शब्दका अर्थ ज्ञान है। अपने आत्माके यथार्थ ज्ञानको स्वानुभव कहते हैं। जब आत्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव करने लगता है तब वह हिंसादिक समस्त पापोंका त्याग कर आत्माको अत्यन्त शुद्ध बनानेका प्रयत्न करता रहता है। तथा धीरे-धीरे समस्त कर्मोंको नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध होता है मोक्ष प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय स्वानुभव है। जबतक स्वानुभव नहीं होता तबतक यह आत्मा आत्माका यथार्थ स्वरूप न जाननेके कारण शरीरादिकको ही आत्मा मान लेता है अथवा राग-द्वेष आदि आत्माके विभाव परिणामोंको ही आत्माका स्वभाव मान लेता है। और इस प्रकार विपरीत मानकर नरकादिक चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकारके महा दुःख भोगा करता है। यह संसारी जीव अनादि कालसे ऐसे ही महादुःख भोग रहा है तथा इस ग्रन्थके

कर्ता आचार्य कुंथुसागरजी कहते हैं कि मेरा आत्मा भी इसी प्रकार अनादिकालसे परिभ्रमण करता हुआ चारों गतियोंके महादुःख भोग रहा है ॥ ५६ ॥

The mortal beings have spent up an immeasurable period of time in extreme misery in this ocean in the shape of birth being destitute of the realisation of one's own soul which is the conferer of peace and happiness and I Muni Kunthusagrji have also done the same. (56)

इसीलिए हे भगवन् ! हे देवाधिदेव ! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि—

हे वीर हे देव कृपानिधे हे,
कृपाप्रसादात्तव सर्वजीवाः ।
स्वात्मानुभूतिं हि जवेन लब्ध्वा,
गच्छन्तु मोक्षं च ममापि चात्मा ॥५७॥

संस्कृतार्थः—तस्मात् श्रीवीरं प्रति प्रार्थयत्याचार्यः—हे भगवन् ! तव प्रसादात् सर्वे प्राणिनः यथाशीघ्रं स्वात्मानुभूतिं प्राप्य मोक्षं गच्छंतु, तथा ममात्मापि परमानन्दमयं निर्विकारं निश्चलं स्वात्मानुभवं लब्ध्वा मुक्तिश्रियमाश्रयतु इति मे भावना वर्तते ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे वीरभगवन् ! हे देवाधिदेव ! हे कृपासिंधो ! आपकी कृपाके प्रसादसे समस्त भव्यजीव अपने आत्माकी अनुभूतिको पाकर शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करें और यह मेरा आत्मा भी अपनी स्वानुभूतिको पाकर शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करें ॥ ५७ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके समान वीतराग सर्वज्ञ देवकी प्राप्ति बड़े पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होती है । आपकी प्राप्ति होना और आपकी स्तुति भक्ति होना महा पुण्यका कारण है । हे प्रभो ! आपकी भक्ति और स्तुति करके मैं कुछ चाहता नहीं हूँ । क्योंकि

कल्पवृक्षके समीप जानेसे छाया तो बिना माँगे मिल ही जाती है। फिर भी यदि उसका कुछ फल प्राप्त होता हो तो मैं केवल स्वानुभूति चाहता हूँ, क्योंकि स्वानुभूति प्राप्त होनेपर ये जीव अपने आप मोक्षमार्गमें लग जाते हैं और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। आचार्य कुंथुसागर कहते हैं कि हे भगवन्! मेरा भी यह आत्मा स्वात्मानुभूतिको पाकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करे, यही आपकी परम कृपाका फल होना चाहिए ॥ ५७ ॥

Oh ! God Mahavir, oh the ocean of favours, by your grace may all beings and my soul too, after having very speedily gained the realisation of one's own soul proceed on to absolution. (57)

आगे आचार्य अपनी लघुता दिखलाते हुए अपनी भावनाओंके लिए भी भावना करते हैं—

छन्दो ह्यलंकारकलादिकं न,
साहित्यशास्त्रं सुनयप्रमाणम् ।
नीत्यादिकं व्याकरण न काव्य,
नाऽहं विजानामि विशेषशास्त्रम् ॥५८॥

वै केवलं स्वात्मरसार्थमेव,
स्वशान्तयं स्वात्मनि बोधनार्थम् ।
स्वातंत्र्यदात्री परतंत्रहर्त्री,
व्याध्यादिहर्त्री सुखशांतिदात्री ॥५९॥

निजात्मशुद्धेर्वरभावनेय,
स्वर्मोक्षदात्री भवरोगहर्त्री ।

श्री कुंथुनाम्ना मुनिना प्रणीता,
मोक्षार्थिभिश्चेतसि चिंतनीया ॥ ६० ॥

संस्कृतार्थः--निर्मलज्ञानादिगुणगणयोगात् विश्ववंद्योपि प्रकृतिसमुत्थविनयगुणवशंगतो लघुत्वं प्रदर्शयत्याचार्यः । छन्दालंकारसाहित्यादिकमहं न जानामि, व्याकरणमन्यशास्त्रं वा न जानामि, केवलं स्वात्मानन्दपोषणार्थं आत्मशांत्यर्थं, आत्मबोधनार्थं परकल्याणार्थं च इयं निजात्मशुद्धिभावना प्रणीता, सा कीदृशी-स्वातंत्र्यदात्री स्वराज्यदायिनी, परतंत्रहर्त्री कर्मपारवश्यविनाशिनी, रोगशोकविनाशिका, स्वर्गमोक्षप्रदायिनी, भवरोगध्वंसिनी इति आत्महितैषिभिस्सदा समादरणीया ॥ ५८-५९-६० ॥

अर्थ—मैं न छंदशास्त्रको जानता हूँ, न अलंकार शास्त्र जानता हूँ, न कलाकौशल जानता हूँ, न साहित्यशास्त्र जानता हूँ, न नय और प्रमाणोंक स्वरूप जानता हूँ, न नीतिशास्त्र जानता हूँ, न व्याकरण जानता हूँ, न काव्य जानता हूँ, और न मैं विशेष शास्त्रोंको जानता हूँ, किंतु केवल अपने आत्मरसकी प्राप्तिके लिए अपने आत्मामें शांति पहुँचाने के लिए और अपने आत्मामें आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए यह अपने आत्माको शुद्ध करनेवाली श्रेष्ठभावना कही है । ये भावनाएँ आत्माको मोक्षरूप स्वतंत्रताको देनेवाली हैं, कर्मबंधनसे होनेवाली आत्माकी परतंत्रताको हरण करनेवाली हैं, आधि-व्याधि आदि समस्त रोगोंको हरण करनेवाली हैं, सुख और शांतिकी देनेवाली हैं, संसाररूपी रोगको नाश करनेवाली हैं, और स्वर्ग मोक्षको देनेवाली हैं । ये भावनाएँ मुनिराज श्री कुंथुसागरजीकी बनाई हुई हैं । इसलिए मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपने हृदयमें इन भावनाओंका सदा चिंतवन करते रहना चाहिए ॥ ५८-५९-६० ॥

भावार्थ—इन भावनाओंके चिंतवन करनेसे आत्मा अपने शुद्धस्वरूपकी ओर झुकता है । शुद्ध स्वरूपकी ओर झुकनेके कारण पापोंके त्याग करनेमें लग जाता है । व्रत, समिति, गुप्ति आदिके पालन

करनेमें लग जाता है और इस प्रकार धीरे-धीरे समस्त कर्मोंको नाश-कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इसलिये प्रत्येक भव्य जीवको सदा-काल इन भावनाओंका चिंतवन करते रहना चाहिए । इसीलिए इन भावनाओंका निरूपण किया है ॥ ५८-५९-६० ॥

I neither know any special Shastras e. g. such as the art of prosody or the figures of speech neither am I conversant with the literary lores, nor with lores of logic, nor morality, grammar and poetry.

Purely for the reason of the realisation of the contentment of one's own soul, and for the appeasement and instructions of the same I muni by name Kunthusagarji have laid down this Bhavana (a book of thoughts) for the purpose of purification of one's own soul which is the giver of independence, which is the robber of dependence, which is the remover of maladies etc. which is the conferer of peace and happiness which is the giver of heavens and absolution and which is the reliever of the malady of life and which is fis to be pondered over in their minds by person anxious to attain absolution.

(58-59-60)

इतिश्री आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचितायां निजात्मशुद्धिभावनायां निश्चयनयापेक्षया निजात्मभावनावर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागरजीविरचित निजात्मशुद्धि भावनामें निश्चयनयकी अपेक्षासे निजात्मभावनाका वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।

●

अथ प्रशस्ति

इन्द्रादिवंद्यस्य च शांतिसिंधो-
दीक्षागुरोर्धीरदयानिधेश्च ।
अज्ञानहर्तुर्वरशिक्षकस्य,
सुधर्मसिंधोः कृपया दयाब्धेः ॥ ६१ ॥
मोक्षं गते महावीरे स्वर्मोक्षसुखदायके ।
चतुर्विंशतिसंख्याते सद्विषष्टयधिके शते ॥६२॥
फाल्गुने शुक्लपक्षे च तृतीयायां शुभे दिने ।
तारंगासिद्धमेदिन्यां स्थित्वा स्वानंदहेतवे ॥६३॥
इष्टार्थदायिनीं चेयं श्रीस्वात्माशुद्धिभावना ।
रचिता स्वात्मनिष्ठेन कुन्थुसागरयोगिना॥६४॥

संस्कृतार्थः—दीक्षागुरोराचार्यशांतिसागरस्वामिनः शिक्षागुरोः । श्रीसुधर्मसागरस्वामिनः सद्गुणान् स्मारं स्मारं कृतज्ञतां प्रदर्श्य ग्रंथ-निर्माणकालं व्यनक्त्याचार्यः । द्विषष्टयधिकयुते चतुर्विंशतिशते महावीर शके (२४६२) फाल्गुनशुक्लतृतीयायां दिने तारंगासिद्धक्षेत्रे इयं निजात्म-शुद्धिभावना विश्ववंद्येन स्वात्मनिष्ठेनाचार्यवर कुंथुसागरस्वामिना निर्मिता । इति भद्रं भूयात् ॥ ६१-६२-६३-६४ ॥

अर्थ—इन्द्रादिकदेवोंके द्वारा वंदनीय धीर, वीर और दया के सागर ऐसे मेरे दीक्षागुरु श्रीआचार्य शांतिसागरजीकी कृपासे तथा अज्ञानको हरण करनेवाले और दयाके सागर ऐसे मेरे विद्यागुरु आचार्य श्रीसुधर्मसागरजीकी कृपासे वीरनिर्वाण संवत् २४६२ चौबीस सौ बासठके फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षकी तृतीयाके शुभ दिनमें आत्मामें तल्लीन—श्री कुंथुसागर मुनिने श्रीतारंगाजी सिद्धभूमिमें

रहकर आत्मानन्दके लिए इष्टार्थको देनेवाली श्रेष्ठ ऐसी यह आत्म-शुद्धिभावना रची है ॥ ६१-६२-६३-६४ ॥

By the good will of my Diksha Guru Acharya Shri Shantisagarji a veritable treasure of quietitude telming with compassion over flows with patience and one of illisirous memory and fit to be bowed down by God like Indra etc. and by the favour of my Vidya-Guru Sudharm-Sagarji who was the remover of ignorance and an excellent tutor. I, Yogi Kunthusagarji by name, have written this book styled "Shri Nijatma-Shuddhi Bhavana" at the well known resort of recluses by name Tarangaji–Bhavana which is the giver of the desired object and which is written for the purpose of obtaining the joy of my own soul on the auspicious third day of the bright half of the month of Falgun of the Mahavir Nirvan year Twenty four hundred and sixty two. (61-62-63-64)

इति निजात्मशुद्धिभावना समाप्ता

●